पुस्तक-वार्ता

75

मार्च-अप्रैल 2018

ISSN 2349-1809

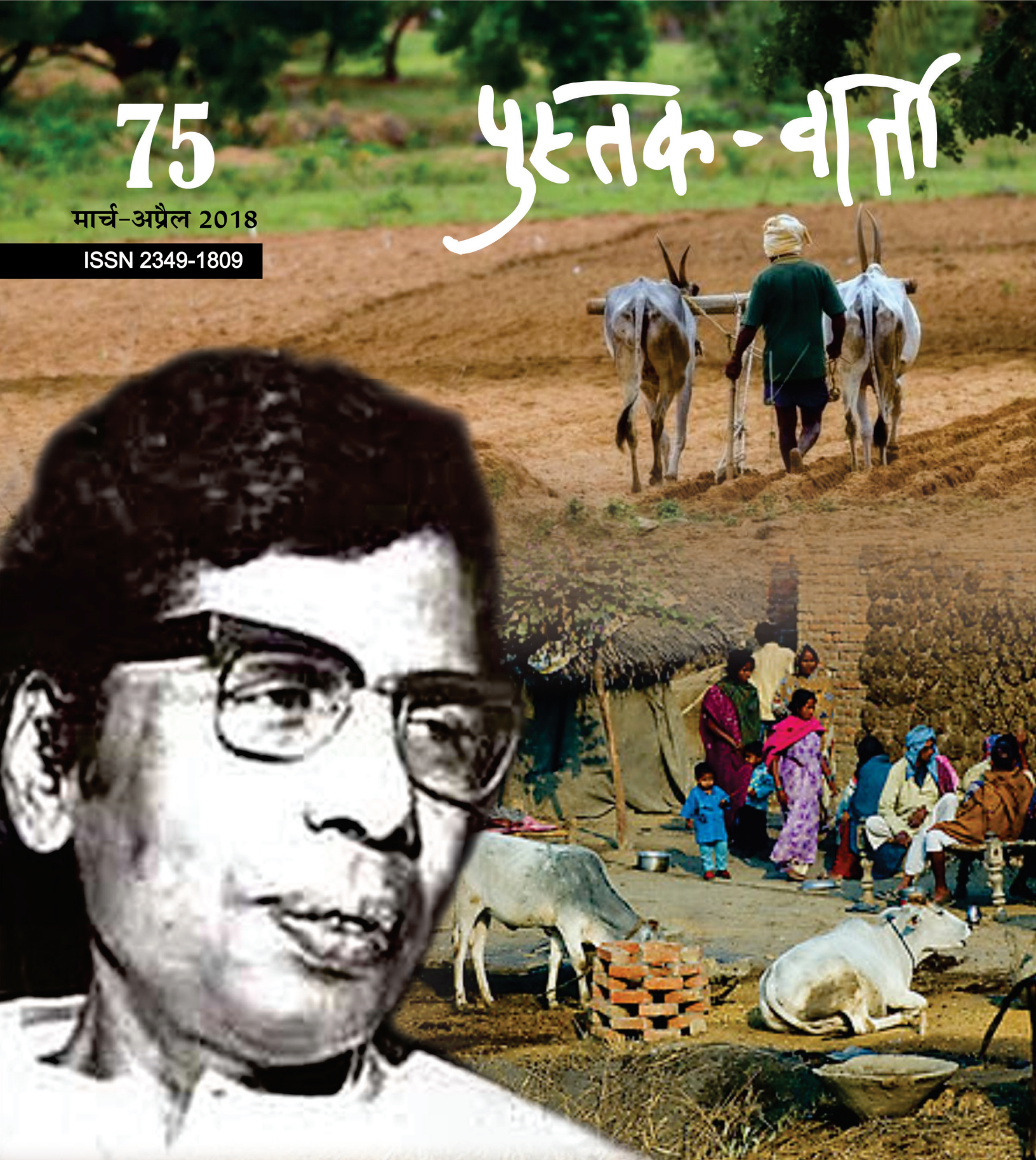

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

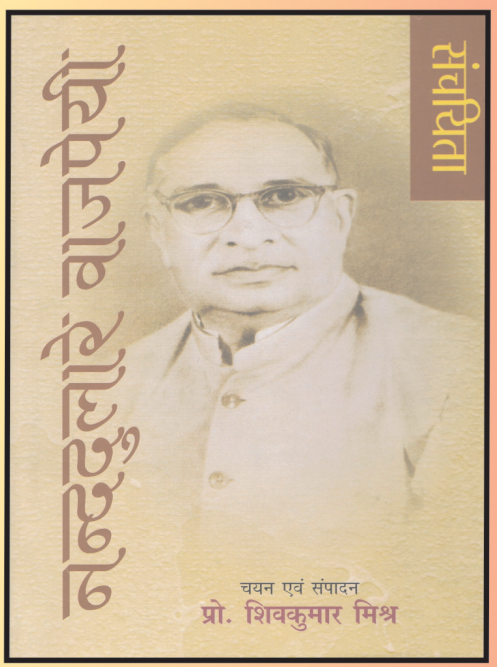

मूल्य : 1500

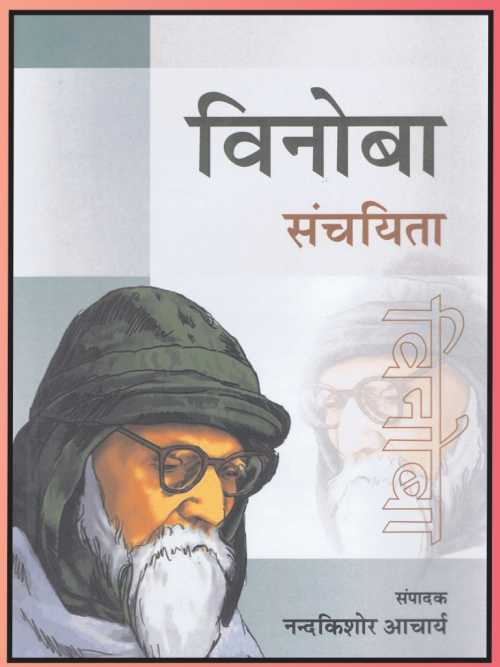

मूल्य : 900

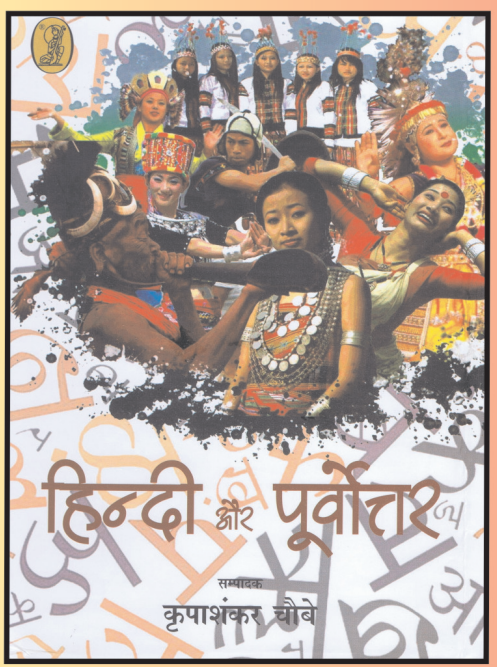

मूल्य : 495

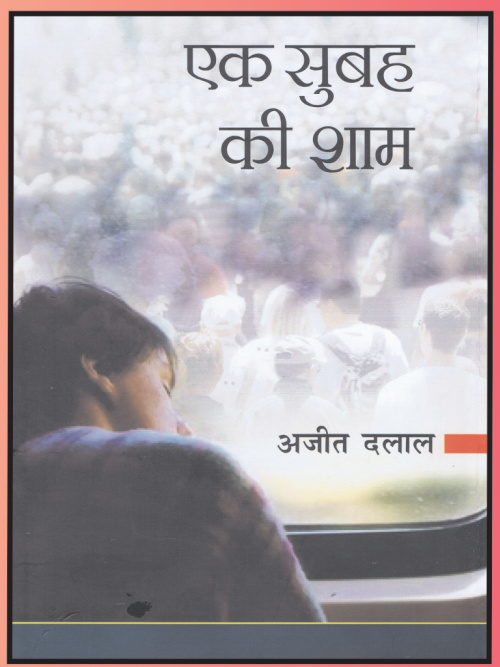

मूल्य : 225

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक : 75 ■ वर्धा, मार्च-अप्रैल, 2018

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र (कुलपति)

संपादक
अशोक मिश्र

सह-संपादक
अमित कुमार विश्वास

लेआउट
राजेश आगरकर

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संपादकीय संपर्क
संपादक : पुस्तक-वार्ता
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. : संपा. 7888048765, सह-संपा. 9970244359
ई-मेल : amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से विश्वविद्यालय या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ₹ 20/-
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120/- (व्यक्तिगत)
: ₹ 180/- (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)
(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगे। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा
और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें-
राजेश कुमार यादव, प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

PUSTAK-VARTA
A Bimonthly journal of Book Reviews in Hindi published
by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
Post - Hindi Vishwavidyalaya, Gandhi Hills
Wardha-442001 (Maharashtra)

मुद्रण : क्विक ऑफसेट, दिल्ली - 110032

इस बार

रेणु के साहित्य में आंचलिकता 'सहायक नाद' की तरह है। इस क्रम में वे लोक-साहित्य की झंकृतियों का विस्मरण नहीं करते हैं। वे जीवन के वर्णन-क्रम में चिराचरित परंपरा के स्वरों से विलग होकर तान भरते हैं। जब वे 'उपन्यास' की विधा को तोड़ते हुए नायकत्व की पुरानी धारणा का खंडन करते हैं तब उनकी प्रयोगधर्मिता सामने आती है।

रेणु और 'सहायक नाद'/ प्रमोद कुमार सिंह 04

रेणु नाम की दौलत पाकर हम धन्य हैं.../ दक्षिणेश्वर प्रसाद राय 06

रेणु का ऋणजल-धनजल/ भारत यायावर 08

आदिवासी साहित्य : अवधारणा और इतिहास/ गंगा सहाय मीणा 15

जमाने की कथा एक शायर के बहाने/ विजय बहादुर सिंह 20

दुख ही जीवन की कथा रही/ रेवतीरमण शर्मा 24

बे पंख सिलसिले तमाम / चंद्रकला त्रिपाठी 26

कश्मीर की वादियों से/ उमेश कुमार सिंह 29

शिक्षा का वैचारिक कुंभ/ डी.एन. प्रसाद 32

लेखक का डार्करूम/ संजीव 36

यज्ञ शर्मा को पढ़ते हुए/ ज्ञान चतुर्वेदी 39

समय का खूबसूरत दस्तावेज/ स्वतंत्र मिश्र 42

भाषा का अनुशीलन/ जी. गोपीनाथन 45

जिंदगी बहुत पेचीदा है/ विनय कुमार सिंह 48

मीडिया का अंदरखाना/ अभिषेक दास 50

नील का दाग/ उमाशंकर चौधरी 53

शब्दों की रंगवीथि/ ऋषिकेश राय 57

कितनी तस्वीरें/ अवंतिका शुक्ला 59

षड्यंत्र को उघेड़ती पुस्तक/ प्रमिला वर्मा 63

दीनदयाल और अंबेडकर के बहाने/ अशोक नाथ त्रिपाठी 66

पुस्तकें मिलीं

आवरण पृष्ठ : फणीश्वरनाथ रेणु

कवर एवं रेखांकन : महेश्वर शर्मा

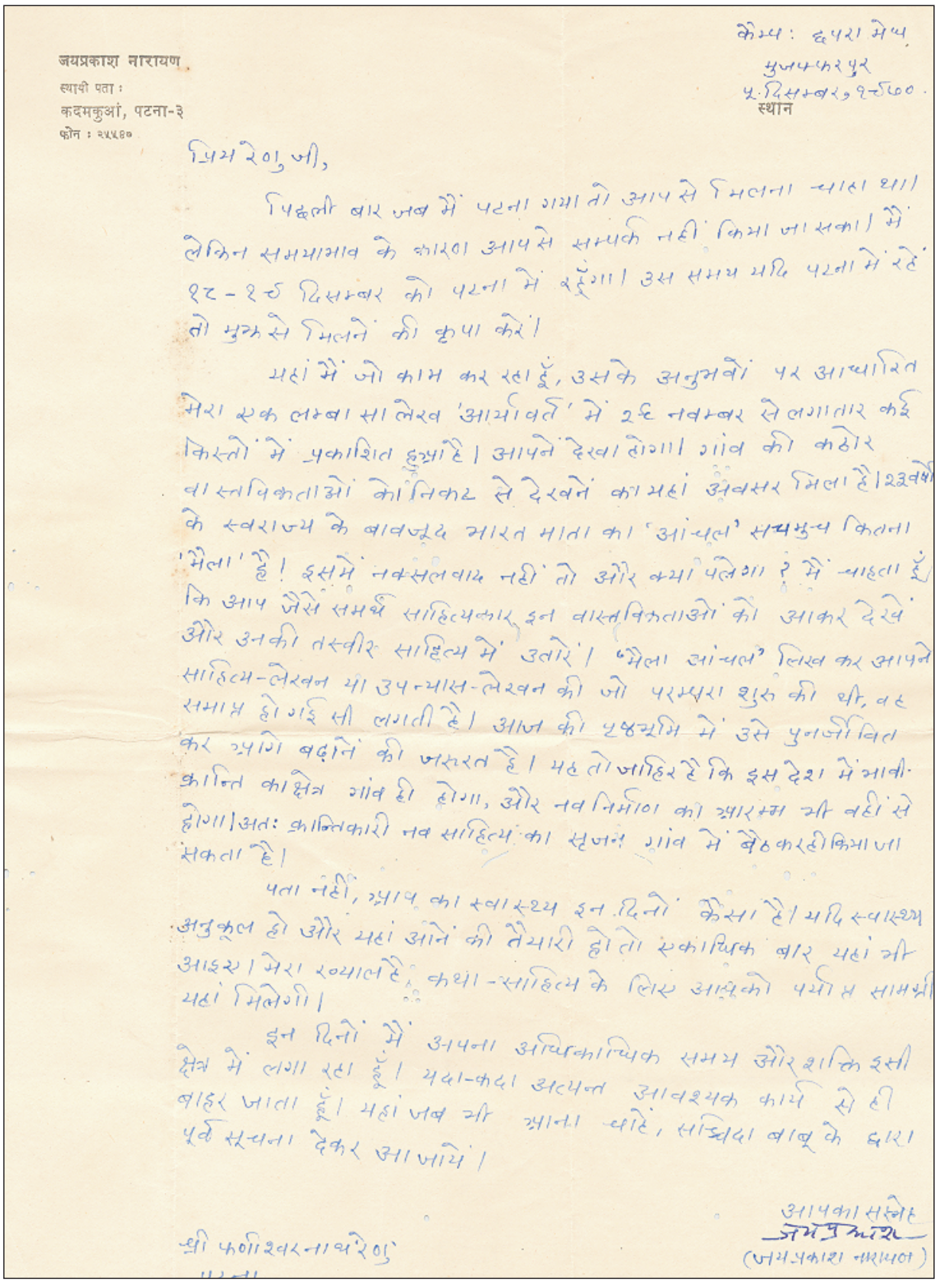

जयप्रकाश नारायण
स्थायी पता :
कदमकुआं, पटना-३
फोन : २५५४०

केम्प : छपरा मेंप,
मुजफ्फरपुर
५ दिसम्बर, १९७०.
स्थान

प्रिय रेणु जी,

पिछली बार जब मैं पटना गया तो आप से मिलना चाहा था। लेकिन समयाभाव के कारण आपसे सम्पर्क नहीं किया जा सका। मैं १८-१९ दिसम्बर को पटना में रहूँगा। उस समय यदि पटना में रहें तो मुझसे मिलने की कृपा करें।

यहां मैं जो काम कर रहा हूँ, उसके अनुभवों पर आधारित मेरा एक लम्बा सा लेख 'आर्यावर्त' में २६ नवम्बर से लगातार कई किस्तों में प्रकाशित हुआ है। आपने देखा होगा। गांव की कठोर वास्तविकताओं को निकट से देखने का यहां अवसर मिला है। २३ वर्षों के स्वराज्य के बावजूद भारत माता का 'आंचल' सचमुच कितना 'मैला' है! इसमें नक्सलवाद नहीं तो और क्या पलेगा? मैं चाहता हूँ कि आप जैसे समर्थ साहित्यकार इन वास्तविकताओं को आकर देखें और उनकी तस्वीर साहित्य में उतारें। 'मैला आंचल' लिख कर आपने साहित्य-लेखन या उपन्यास-लेखन की जो परम्परा शुरु की थी, वह समाप्त हो गई सी लगती है। आज की पृष्ठभूमि में उसे पुनर्जीवित कर आगे बढ़ाने की जरूरत है। यह तो जाहिर है कि इस देश में भावी क्रान्ति का क्षेत्र गांव ही होगा, और नव निर्माण का आरम्भ भी वहीं से होगा। अतः क्रान्तिकारी नव साहित्य का सृजन गांव में बैठ कर ही किया जा सकता है।

पता नहीं, आप का स्वास्थ्य इन दिनों कैसा है। यदि स्वास्थ्य अनुकूल हो और यहां आने की तैयारी हो तो एकाधिक बार यहां भी आइए। मेरा ख्याल है, कथा-साहित्य के लिए आपको पर्याप्त सामग्री यहां मिलेगी।

इन दिनों मैं अपना अधिकाधिक समय और शक्ति इसी क्षेत्र में लगा रहा हूँ। यदा-कदा अत्यन्त आवश्यक कार्य से ही बाहर जाता हूँ। यहां जब भी आना चाहें, सूचित्रा बाबू के द्वारा पूर्व सूचना देकर आ जायें।

आपका स्नेह
जयप्रकाश
(जयप्रकाश नारायण)

श्री फणीश्वरनाथ रेणु
पटना

5 दिसंबर, 1970 को लोकनायक जयप्रकाश नारायण द्वारा फणीश्वरनाथ रेणु को लिखा गया पत्र
रेणु जी के पुत्र वेणु जी से प्राप्त हुआ है।

संपादकीय

'पुस्तक-वार्ता' के इस अंक में हिंदी के अप्रतिम कथाशिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु पर विशेष सामग्री दी जा रही है। एक स्थान पर रेणु खुद अपने लेखन के बारे में लिखते हैं कि-'मैंने जमीन, भूमिहीनों और खेतिहर मजदूरों की समस्याओं को लेकर बातें की। जातिवाद, भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार की पनपती हुई बेल की ओर मात्र इशारा नहीं किया था, इसके समूल नष्ट करने की आवश्यकता पर भी बल दिया था। रेणु के इस आत्म-वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनका जीवन और समाज के प्रति उनका सरोकार प्रेमचंद की तरह ही है। यह कहा जा सकता है कि रेणु और प्रेमचंद के कथा साहित्य में एक समानता है वह है कि दोनों के ही लेखन के केंद्र में किसानों के दुख दर्द और उनकी शोषित स्थितियां हमारे सामने आती हैं। यही वजह है कि प्रेमचंद और रेणु दोनों को ही पाठकों का एक बड़ा वर्ग मिला।

अंक की विशेष उपलब्धि है कि रेणु के पुत्र श्री दक्षिणेश्वर प्रसाद राय ने बहुत ही आत्मीयता और गहरी संवेदना के साथ 'पुस्तक-वार्ता' के लिए अपने पिता को याद किया है। श्री राय ने लिखा है कि अकसर अपने पिता पर लिखते या स्मरण करते समय वे 'सेंटीमेंटल' हो जाते हैं। उन्होंने बहुत ही पारिवारिक ढंग से घर में पिता की स्मृतियों को शब्दों का रूप दिया है वह पढ़ने वाले को अनायास ही बांध लेता है। पाठक संस्मरण में रेणु की रचनात्मक उपस्थिति के साथ-साथ उनको सामने खड़ा पाता है जो कि उनके संस्मरण लेखन की शक्ति है। इसके साथ ही रेणु साहित्य के गहन अध्येता भारत यायावर और प्रमोद कुमार सिंह के लेख रेणु की रचनाओं को समझने की एक नई दृष्टि प्रदान करते हैं।

हिंदी साहित्य में पिछले दो दशकों के दौरान जिन नए विमर्शों की बात की जाने लगी है उनमें स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श प्रमुख हैं। साहित्य में हाशिए के जो समाज अपनी रचनाओं के माध्यम से सामने आ रहे हैं वे आदिवासी समाज से हैं। इस समाज के लेखक आदिवासियों के प्रति चिंता, वस्तुस्थिति, जमीनी सच्चाई से भी हिंदीभाषी समाज के एक बड़े संसार को रूबरू करा रहे हैं। यही वजह है कि इन दिनों साहित्य में आदिवासी विमर्श तेजी से अपना स्थान बनाता जा रहा है। अंक में शामिल गंगा सहाय मीणा का लेख आदिवासी विमर्श की चिंताओं और जमीनी हालात से परिचित कराते हुए तर्कसंगत प्रश्न उठाता है जिन पर विचार किया जाना चाहिए। इन सवालों में आदिवासी लेखकों, चिंतकों की उपेक्षा का प्रश्न भी शामिल है।

'पुस्तक-वार्ता' का निहित उद्देश्य हिंदी में प्रकाशित विभिन्न विधाओं की कृतियों का विवेचन कराकर उनके महत्व से पाठकों को परिचित कराना है। इस बार आत्मकथा, कहानी, उपन्यास, कविता, व्यंग्य, भाषा चिंतन, मीडिया, स्त्री विमर्श, लेख, परिचर्चा और 1857 व मिश्रित विधाओं की कृतियों की समीक्षा लेखकों-आलोचकों ने की है। अंत में हर बार की तरह पत्रिकाएं स्तंभ में साहित्यिक पत्रिकाओं के उल्लेखनीय अंकों पर टिप्पणी दी जा रही है। इस बीच हिंदी के प्रख्यात कवि केदारनाथ सिंह नहीं रहे। केदारनाथ सिंह हिंदी कविता में लोक और गांव की बात करते थे। उनकी स्मृति को नमन। यह अंक कैसा लगा यह पत्र लिखकर, एसएमएस संदेश से या ईमेल भेजकर अवगत कराएं। आपके सुझावों व प्रतिक्रियाओं का इंतजार रहेगा।

अशोक मिश्र

रेणु और 'सहायक नाद'

■ **प्रमोद कुमार सिंह**
आलोचक

संपर्क : आमगोला, पड़ाव
पोखर पथ-01,
मुजफ्फरपुर (बिहार)

'धरती के धनी' रेणु ने कथा-लेखन के क्रम में तत्वतः एक लोक-गायक की पहचान बनाई है। वे अभावग्रस्त जनजीवन में आंतरिक आनंद को उस गीतिधर्मिता में लक्षित करते हैं जिसका अस्तित्व संकटापन्न हो गया है। गांवों का जो गीतात्मक उल्लास तिरोहित होने लगा है, लोकगीत बिकाऊ हो गए हैं। इस दुरवस्था को रेणु ने क्रमशः 'रसप्रिया' और 'रेखाएं : वृत्तचित्र (दो)' शीर्षक कहानियों में संकेतित किया है। उनकी आंचलिकता का स्वर संभवतः उक्त परिवेश को परिवर्तित करने की आकांक्षा का भी प्रतिफल है।

तानपूरे में चार तार होते हैं, किंतु उससे सात स्वर फूटते हैं। मुख्य और पार्श्वचर स्वरों की यह संगति गायन ही नहीं, लेखन के लिए भी जरूरी है। रेणु ने संगीत की इस मान्यता से अपनी रचनाधर्मिता को जोड़ा है जिससे उनकी आंचलिकता के वैशिष्ट्य का निर्धारण हुआ है। उनकी 'तीन बिंदियां' शीर्षक कहानी इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य है जिसमें मीताली और गीताली नाम की दो बहनों की संगीत-साधना का विश्लेषण हुआ है। बड़ी बहन मीताली ठुमरी की प्रस्तुति के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त करती है किंतु विवाह के उपरांत उसकी ख्याति छीज जाती है। वह शास्त्रीय ठुमरी में क्षेत्रीय विशेषताओं का सन्निवेश करती रही है, किंतु उसका पति इस पद्धति को भ्रष्ट और 'वर्णसंकर' मानता है। पति के दबाव में मीताली शुद्ध ठुमरी गाने लगती है और श्रोताओं के बीच अपना आकर्षण खो देती है। गीताली बहन की इस भूल से सीख लेकर ठुमरी को पुनः नए सिरे से प्रस्तुत करना चाहती है ताकि इसकी लोकप्रियता बाधित न हो। रेणु ने ठुमरी की अदायगी के क्रम में जिस 'सहायक नाद' की चर्चा की है उसके बिना इस गायन-पद्धति को सफलता नहीं मिल सकती है। उनकी गीताली इस 'नाद' का विश्लेषण यों करती है : ''सहायक नाद! जिसको ओवरटोन कहते हैं। नाद कभी अकेला उत्पन्न नहीं होता। उसके साथ-साथ अन्य नादों का भी जन्म होता है। उस स्वर को हम सुन पाएं अथवा नहीं, मूल नाद से उत्पन्न होने वाले इन नादों को सहायक नाद कहा जाता है। स्वयं ही जन्म लेने के कारण इन्हें स्वयंभू स्वर भी कहते हैं।''[1]

गीताली की बड़ी बहन अपने गायन में आंचलिक संगीत के प्रवाह को स्वभावतः स्वायत्त करती रही थी किंतु उसके पति इसे उचित नहीं समझते थे। ठुमरी में कीर्तन, भठियाली तथा पूर्वी का मिश्रण कर मीताली बहुत लोकप्रिय हो गई थी। 'मूल राग से आंख-मिचौली खेलती हुई छोटी-छोटी, आंचलिक रागिनियां'[2] उसके संगीत में जो नयापन ला देती थी उससे श्रोतागण मुग्ध हो जाते थे। परिस्थितिवश मीताली अपनी इस प्रयोगशीलता से विरत हो गई जिसके परिणामस्वरूप उसे मंच पर अपमान झेलना पड़ा था। छोटी बहन गीताली जब यंत्रकार से मिलती है तब वह ठुमरी में ग्रामीण संस्कारों के संयोजन के लिए सन्नद्ध हो जाती है। यह पूरा-का-पूरा वृत्तांत शास्त्रीय विशुद्धता के प्रतिपक्ष में आंचलिकता की उपयोगिता को ध्वनित करता है। यहां मूल विषय के साथ-साथ आनुषंगिक संदर्भों के समाकलन की वांछनीयता पर रेणु बल देते हैं। उनकी दृष्टि में परंपरागत काव्यरूप यदि यथावत् प्रयुक्त होंगे तो वे एकांततः प्रभावी नहीं हो सकेंगे। शास्त्रीय बंध में क्षेत्रीय प्रयोगों की उपस्थिति से ही चमत्कार की सिद्धि संभव है, आंचलिक कथा-साहित्य इस तथ्य का भली भांति सत्यापन करता है।

रेणु के साहित्य में आंचलिकता 'सहायक नाद' की तरह है। इस क्रम में वे लोक-साहित्य की झंकृतियों का विस्मरण नहीं करते हैं। वे जीवन के वर्णन-क्रम में चिराचरित परंपरा के स्वरों से विलग होकर तान भरते हैं। जब वे 'उपन्यास' की विधा को तोड़ते हुए नायकत्व की पुरानी धारणा का खंडन करते हैं तब उनकी प्रयोगधर्मिता सामने आती है। उपन्यास की मूल संरचना को वे स्थानीय रंगों और लोक-साहित्य के उपादानों से परिपुष्ट करते हैं। यह 'सहायक नाद' के प्रति उनके उस आग्रह को दर्शित करता है जो ग्रामगाथा के परंपरागत तेवर और स्वाद को बदलने वाला है।

'मैला आंचल' (1954 ई.) में उपर्युक्त 'सहायक नाद' को जगाकर रेणु ने कृतिगत विशिष्टता का अर्जन किया है। उन्होंने 'मेरी गंज' की कथा के मूल स्वर को अनेकत्र लोक-साहित्य के संदर्भों से संपोषित किया है। 'समदाउन', 'निरगुन', 'सुरंगा सदाब्रिज', 'लोरिक', 'जोगीड़ा', 'भंड़ौवा', 'चैती', 'बारहमासा', 'जाट जट्टिन', 'विपटा', 'संथाली गीतों' आदि के टुकड़े यहां अप्रासंगिक नहीं हैं। वे औपन्यासिक घटनाओं को गति देते हैं। इसी तरह विद्यापति के जो गीत लोकजीवन के अंग बन गए हैं, रेणु ने उनका भी सम्यक् विनियोग किया है। लोक-संस्कृति के प्रति इस रुझान के कारण उपन्यास की शास्त्रीय विधा को अभिनव कलेवर संप्राप्त हुआ है और उसकी कथ्यगत प्रभविष्णुता में वृद्धि हुई है।

रेणु ने जिस कोशी अंचल को रूपायित किया है वह लोक-साहित्य का संबल पाकर विशिष्ट स्वर-सिद्धि का प्रतिमान बन गया है। मेरी गंज की तरह

ही परानपुर का लोकजीवन भी क्षेत्रीय गीतों, अनुश्रुतियों और आख्यानों की सहायता से विधिवत् मूर्त हो सका है। 'सामा चकेवा', 'नदियों', 'घाटों', 'कुंडों' आदि से जुड़े लौकिक प्रसंगों ने 'परती : परिकथा' (1957 ई.) को परंपरागत उपन्यासों के तंत्र से निष्कृति दिलाकर वाचिक संस्कृति का अभिलेख बना दिया है। यहां 'परती' की केंद्रीय कथा अवांतर स्वरों से समृद्ध होकर अनूठी हो गई है। निश्चय ही रेणु की यह सफलता औपन्यासिक क्षेत्र में अभिनव ठुमरी गायन का साक्षात्कार कराती है।

'धरती के धनी'[3] रेणु ने कथा-लेखन के क्रम में तत्वतः एक लोक-गायक की पहचान बनाई है। वे अभावग्रस्त जनजीवन में आंतरिक आनंद को उस गीतिधर्मिता में लक्षित करते हैं जिसका अस्तित्व संकटापन्न हो गया है। गांवों का जो गीतात्मक उल्लास तिरोहित होने लगा है,[4] लोकगीत बिकाऊ हो गए हैं।[5] इस दुरवस्था को रेणु ने क्रमशः 'रसप्रिया' और 'रेखाएं : वृत्त चित्र (दो)' शीर्षक कहानियों में संकेतित किया है। उनकी आंचलिकता का स्वर संभवतः उक्त परिवेश को परिवर्तित करने की आकांक्षा का भी प्रतिफल है। वे मीताली और गीताली के संगीत-गुरु से सीख लेकर जिस तरह 'सहायक नाद' का अवलंब ग्रहण करते हैं उससे उनके तानपूरे के जीवन-संगीत को पर्याप्त मुखरता एवं लोक-स्वीकृति मिली है।

औराही हिंगना का ग्रामीण लेखक पटना, इलाहाबाद और बंबई के नागरिक जीवन से भली-भांति अवगत है, किंतु शहर में रहकर भी वह ग्रामीण मानसिकता से मुक्त नहीं है। 'रसूल मिसतिरी'[6] नामक अपनी कहानी के रसूल की तरह ही रेणु नगर में जीवन-यापन करके अंततः ग्रामीण जीवन से संपृक्त हैं। रसूल नगर के बाजार में बैठकर सवारियों, घड़ियों आदि की मरम्मत करता है, किंतु शाम होते ही गांव चला जाता है। वह बिगड़ी हुई वस्तुओं का सुधारक है, किंतु अर्थोपार्जन उसका लक्ष्य नहीं है। उसकी रुचि लोक-सेवा और परोपकार में है। उसका रघ्घू नामक नौकर मरम्मत का काम करता हुआ धनी हो जाता है, किंतु अपने ग्रामीण जीवन-मूल्यों के कारण वह कमाई नहीं, मानवीय संबंधों में विश्वास करता है। बाजार में गांव की मानसिकता को जीवंत करनेवाला यह पात्र अपनी सामान्यता में उस विशिष्टता का बोध कराता है जो लोक-संस्कृति की देन है। रेणु जिस 'सहायक नाद' का उल्लेख करते हैं वह ग्रामीण जीवनचर्या की ही धरोहर है जिसे संप्रति 'आंचलिकता' की आख्या प्राप्त है।

प्रकृत विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से यहां रेणु की 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम'[7] शीर्षक प्रसिद्ध कहानी प्रसंगात् विचारणीय है। यह मूलतः एक प्रेम-कहानी है जो लोक-कथा से संदर्भित होने के कारण 'सहायक नाद' की शक्तिमत्ता को प्रकट करती है। गुलाबबाग के मेले में कानपुर की मथुरा मोहन नौटंकी कंपनी आई हुई है जिसकी हीराबाई अपने हाव-भाव से जनता को आकृष्ट कर रही है। गांव का गाड़ीवान हिरामन उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है, किंतु दोनों का मिलन नहीं हो पाता है। एक व्यावसायिक कंपनी के हाथों बिकी हुई हीराबाई के प्रति उसका प्रेम अभुक्त रह जाता है। उसने एक आंचलिक गीत-कथा हीराबाई को सुनाई है जिसमें महुआ घटवारिन सौदागर के हाथों बिक जाती है। यह गीतात्मक लोककथा 'तीसरी कसम' को नई व्यंजना से भर देती है।[8] वर्तमान जीवन की त्रासदी के मूल कथ्य को महुआ घटवारिन का वृत्तांत बहुत अच्छी तरह संप्रेषित करता है। कोई भी भावक मूल राग के पोषण के क्रम में यहां 'सहायक नाद' की सक्रियता के दर्शन कर सकता है।

रेणु की यह पद्धति कमलेश्वर की प्रसिद्ध कहानी 'राजा निरबंसिया' में भी दिखाई पड़ती है[9] जहां 'जगपती' का वर्तमानकालीन इतिवृत्त राजा के लोकाख्यान से जुड़कर चमत्कृत करता है। कथा-विन्यास में आंचलिक परिपाटी का ऐसा समावेश न केवल पाठकों या श्रोताओं की संवेदनशीलता को जातीय जड़ों के समीप ले जाता है, बल्कि 'चित्त-द्रुति' की निर्विघ्न प्रक्रिया का विधायक भी सिद्ध होता है। ■

संदर्भ-संकेत

1. 'तीन बिंदियां', फणीश्वरनाथ रेणु, 'ठुमरी', पृ. 140, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति, 1991 ई.।
2. उपरिवत्, पृ. 150।
3. 'धरती का धनी', रेणु से संबद्ध 'अज्ञेय' का संस्मरण, 'स्मृतिलेखा', पृ. 100-111, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1986 ई.।
4. ''जेठ की चढ़ती दोपहरी में खेतों में काम करने वाले भी अब गीत नहीं गाते हैं।... कुछ दिनों के बाद कोयल भी कूकना भूल जाएगी क्या? पांच साल पहले तक लोगों के दिल में हुलास बाकी था।'', रसप्रिया, 'रेणु रचनावली', 1, पृ. 127-128, संपादक : भारत यायावर, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995 ई.।
5. ''नए दौर में लोकगीत की बारी आयी और इसके साथ ही मेरी जिंदगी में एक नया तूफान चलने लगा... मिट्टी में गड़े हुए ग्रामीण शब्दों को उखाड़कर अनगढ़ ढंग से दर्जनों कहानियां गढ़कर, गीतकथा बनाकर पुरातन तथा ट्रैडिशनल लोकगीत के नाम पर मैंने चतुराई से चला दिए''- 'रेखाएं : वृत्तचित्र (दो)', उपरिवत्, पृ. 512- 513।
6 (क) 'रसूल मिसतिरी', प्रथमतः प्रकाशितः 'मासिक विश्वमित्र', फरवरी, 1946 ई.।
(ख) 'रेणु रचनावली', 1, पृ. 73-81।
7 (क) 'तीसरी कसम', अर्थात् मारे गए गुलफाम', प्रथमतः प्रकाशित : 'अपरंपरा', पटना, 1957 ई.।
(ख) 'रेणु रचनावली', पृ. 137-163।
8. ''तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरुजी!'', उपरिवत्, पृ. 162
9. 'राजा निरबंसिया', कमलेश्वर, 'समग्र कहानियां', पृ. 130-146, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002 ई.।

रेणु नाम की दौलत पाकर हम धन्य हैं...

दक्षिणेश्वर प्रसाद राय
(फणीश्वरनाथ रेणु के पुत्र)

संपर्क : ग्राम एवं पो.-रेणु गांव औराही हिंगणा, फारबिसगंज जिलाः अररिया-854318 (बिहार)

मैट्रिक में जब 'ठेस' कहानी का चरित्र चित्रण कर रहा था तो मेरे आंखों में आंसू भरे थे... इंटर में जब 'आदिम रात्रि की महक' की विवेचना लिख रहा था, कलेजा मुंह में आ गया... मैं अपने पिता को बचपन से ही भगवान मानता आया हूं और आज भी उनकी पूजा करता हूं... रेणुजी का पुत्र होने का गर्व है।

मेरे बाबा...(बाबूजी) के जीवन और उनके संस्मरण को लिखते हुए मैं अक्सर 'सेंटिमेंटल' हो जाता हूं और शायद मेरे भीतर बगैर पिता का जिया पिताविहीन जीवन मेरे अंतर्रात्मा को झकझोर कर रख देती है, तब मुझे ऐसा लगता है कि मैं एक ऐसे युग में जा पहुंचा हूं जहां मेरा बचपन आज भी यथावत् है और एक पिता के लिए बेचैन और इंतजार के लम्हें को समेटे उनके आने का बाट जोह रहा हूं। घर में सबसे छोटा होने की वजह से मुझे सबसे ज्यादा अल्पकालीन प्यार और दुलार बेपनाह मिला अपने बाबूजी से। मुझे याद है कि जब बाबुजी के पटना से घर आने की खबर मां को मिलती तो उस दिन घर में एक उत्सव का माहौल सुबह से ही देखने को मिलता। मेरी बहनें घर की साफ-सफाई और घर-आंगन की लीपापोती गोबर से करती है और मां बाबूजी के लिए मनपसंद व्यंजन बनाने में मशगुल हो जाती...और इसी बीच बाबूजी का बैलगाड़ीमान कुसुमलाल चाचा जिसे आप हिरामन भी कह सकते हैं, बार-बार मां को ट्रेन का समय बताते कि; 'बरबजिया टैन का समय हो रहा है, संपनी गाड़ी में पुआल डाल दिए हैं, तोसक तकिया और बिछावन चादर और वो भी साफ सुथरा चाहिए, नहीं तो भैया हमको दस बात कहेंगे, तब मां हंसते हुए कहती 'मुंहझौंसा एकखनी दसे बजैय छैय' फिर बैलगाड़ी पर लगने वाला बिछान देते हुए कहती... 'कोनो शिकैत नैंय करबैय रस्ता में'। दरअसल बाबूजी ट्रेन से उतरकर जब बैलगाड़ी पर सवार होकर घर के लिए निकलते तो कुसुम चाचा खबरीलाल की तरह गांव घर की छोटी बड़ी सभी बात सुनाते आते... बाबूजी के हर सवाल का जवाब एकदम सही सही बताते... किसकी शादी हुई, किसका गौना हुआ, किसके घर झगड़ा हुआ, कौन खेत में कौन-कौन सा फसल है, किसके साथ किसका लाट चल रहा है, अनूपलाल बक्शी, मोहन मास्टर, शंभू का गांजा का चौकड़ी कहां चलता है... फलाने के बारात में उपेंदर (बाबूजी के चचेरे भाई) दारु पीकर घोड़े को भी दारु पिला दिया, फिर क्या हुआ इत्यादि। इस बीच हम बच्चों की टोली और बड़े बूढे सभी दरवाजे पर एकत्र होकर बैलगाड़ी के आने की आहट का टोह बैल के गले में डाले हुए घंटी और घुंघरू की आवाज से लेते। उनके आते ही दरवाजे से लेकर घर तक लोगों का मेला लग जाता, कोई उनका बेडिंग उठाता बड़े भैया बैग, चगेंरा और मिट्टी के लदिया में पटना के मशहूर पिंटू होटल का रसगुल्ला संभालकर उनके शयन कक्ष तक पहुंचाते, सभी पैर छूकर प्रणाम करते और मैं इतराकर उनसे दूर अपना भाव दिखाता, अरे पप्पू कहां है? नाक में नेटा और नंग धड़ंग, मैं सब कुछ सुनता और वे अनजान बनकर चुपचाप मेरे पास आकर गोद में उठा लेते, ऊफ!! तब मुझे नहीं मालूम था वे एक बहुत बड़े मशहूर साहित्यकार थे। मैं पहले खिलौना मांगता और फिर बाबूजी बड़े प्यार से मुझे निकालकर उसे चलाना सिखाते, फिर मेरे बाल मंडली को चॉकलेट बांटते और मैं उन सभी के साथ खिलौने का पोस्टमार्टम करने भाग जाता, मेरी दिलचस्पी उसके अंदर काम करने वाले कल-पुर्जे में ज्यादा होती थी। इसलिए कुछ घंटे बाद ही उसका? दूसरा आक्रमण मेरा रसगुल्ले पर होता, एक दो चार दस और कई बार किलो भर और जब मन भर जाता तो उसे घर के पिछवाड़े में तोड़-तोड़ कर फेंकता और बोलता कि बहुत जल्द ही इसके पेंड़ उगेंगे, बाबूजी बहन, बुआ, सभी लोग हंसते-हंसते लोटपोट हो जाते, तब मैं उन लोगों पर गुस्सा निकालता, गालियां देकर बाबूजी की मंडली शाम को जमती। घर में तब पंचलैट जलता जो धनिकलाल ही जलाना जानता था। बड़े होने के बाद में जब पंचलैट कहानी मैं पढ़ा तो जाना कि गोधन का चरित्र धनिकलाल ही है। पंचलैट जलने के बाद शाम साढे सात बजे रेडियो से प्रसारित होने वाला प्रादेशिक सामाचार, ये आकाशवाणी पटना, रांची, भागलपुर है, जिसका नकल मैं दिन में खूब करता, फिर समाचार खत्म होते ही गांजे का दौर शुरू होता और उधर मां, बहन बाबूजी के लिए मांसाहारी भोजन की तैयारी में जुटी रहती। इस बीच मैं सो जाता था, अकसर बाबूजी कभी थाली में भोजन नहीं करते थे, वे हमेशा केले के कोमल पत्ते पर दिन और रात का भोजन करते थे। सुबह भैया को वे सिगार, चारमिनार सिगरेट, ब्रिटेनियां का थिन आरारोट बिस्कुट,

कोकाकोला लेने फारबिसगंज भेज देते। कोकाकोला उनका मनपसंद कोल्ड्रींक था जिसे ठंडा करने के लिए वे रस्सी से बाल्टी बांधकर कुएं में डालकर छोड़ देते। बाबूजी पैखाना करने के लिए घर से दूर जाते थे और उनका टॉयलेट कक्ष का काम उनका छाता करता, जैसे ही वे निकलते मैं मौके की तलाश में रहता, फिर चुपके से उनके बिछावन तकिया की तलाशी लेता और एक दिन मुझे वह मिल गया जिसे देखकर मैं रोज ललचता, जो सुनहले रेपर में थोड़ा लंबा आकार का होता था, वह मोदक था जो कभी-कभी मैं जिद करता तो थोड़ा-सा तोड़कर मुझे दे देते और मीठा होने के साथ मुझे उसका महक बहुत भाता। उस दिन मैं पूरा मोदक साफ कर गया फिर क्या, दो दिन तक होश में नहीं आ सका। न जाने कितना नींबू का निमकी, आचार मुझे खिलाया गया, आखिरी बार बाबूजी जब बीमार पड़कर पटना जा रहे थे तो मुझे अच्छी तरह याद है कि आंगन से निकलते-निकलते बार-बार पीछे पलटकर घर आंगन की तरफ निहार के देखते हुए बाहर निकले, फिर मैं, मां और भैया के साथ उनके ज्यादा तबीयत बिगड़ने की बात सुनकर पटना गया जहां उन्हें पीएमसीएच में बेहोशी के हालत में देखकर मैं और सभी लोग रो पड़े। चौथा दिन था शायद बेहोशी का और फिर अचानक साहित्य सम्मेलन के बरामदे में रखा उनका पार्थिव शरीर देखा, बड़ी बहन नवनीता जिनकी शादी पटना में हीं हुई थी, दहाड़े मारकर बाबूजी के शरीर पर सर पीट-पीट कर रोते देखा तो मां को चूड़ी तोड़कर बेहोशी की हालत में और भैया को बदहवास, अंतिम यात्रा में भीड़ की हुजूम देखकर मैं, फिर मुझे कुछ पता नहीं, जब मैं सोकर उठा, तब भी सब रो रहे थे, मेरी बहन ने कुछ दिनों बाद गांव से मुझे पटना ले आई और वहीं एक स्कूल में मेरा दाखिला करवा दी। इसमें सबसे बड़ी भूमिका मेरे जीजाजी, जो दो वर्ष पहले असामयिक मौत के शिकार हुए, अरुण कुमार सिन्हा जी का रहा, फिर कॉलेज की पढाई एम.ए. तक, तब तक मैं बाबूजी को जान गया था कि वे कितने बड़े साहित्यकार थे, मैट्रिक में जब 'ठेस' कहानी का चरित्र चित्रण कर रहा था तो मेरे आंखों में आंसू भरे थे, इंटर में जब 'आदिम रात्रि की महक' की विवेचना लिख रहा था कलेजा मुंह में आ गया। मैं अपने पिता को बचपन से ही भगवान मानता आया हूं और आज भी उनकी पूजा करता हूं, रेणुजी का पुत्र होने का गर्व है हमें, और मैं ईश्वर से यही कामना करता हूं कि मनुष्य योनि में जब पैदा होऊं तो रेणु का बेटा ही कहलाऊं, मैं आज भी रोता हूं। बचपन से आज तक पिताजी की कमी खली है मुझे, लेकिन उनके नाम से प्रतिष्ठा पाकर और रेणु नाम की दौलत पाकर हम रेणु परिवार धन्य हैं। ■

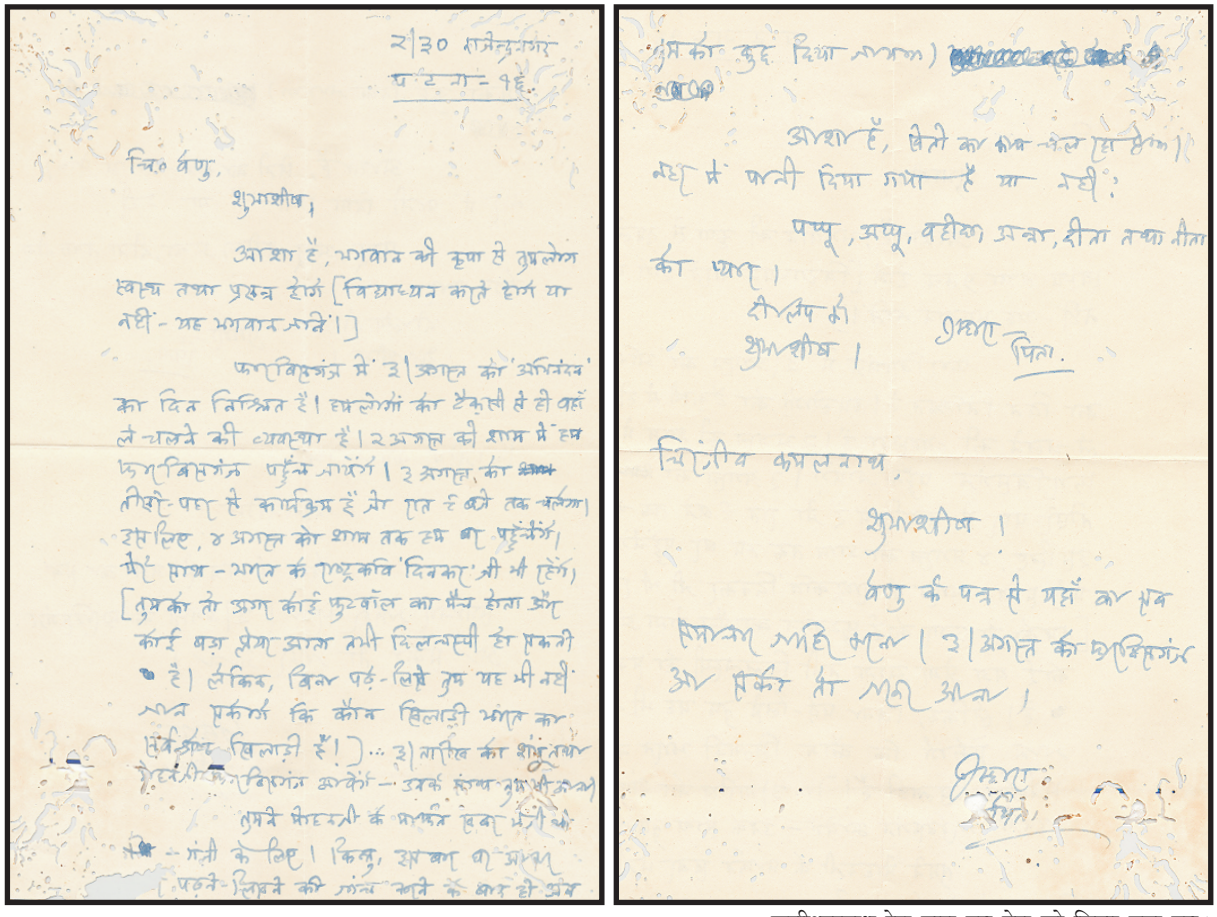

फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा पुत्र वेणु को लिखा गया पत्र।

रेणु का ऋणजल धनजल

भारत यायावर
आलोचक

संपर्क : यशवंत नगर,
मार्खम कॉलेज के निकट
हजारीबाग-825301 (झारखंड)

'ऋणजल धनजल' सूखा और अकाल के लिए गढ़ा हुआ उनका अपना शब्द है। जल का अभाव ही सूखा का कारण है, इसीलिए 'ऋणजल' और जल का बहुतायत में होना ही 'धनजल' है, जो बाढ़ का द्योतक है। गणित में माइनस को ऋण और प्लस को धन कहते हैं। इस तरह सूखे और बाढ़ के लिए यह रेणु द्वारा दिया हुआ नवीन शब्द बेहद अर्थव्यंजक है।

फणीश्वरनाथ रेणु के रिपोर्ताजों की पहली प्रकाशित पुस्तक है- 'ऋणजल-धनजल'। 'रिपोर्ताज' उनकी प्रिय विधा थी। 1950 ई. में वे अपने रिपोर्ताजों की पुस्तक प्रकाशित करवाना चाहते थे, जिसका पता गोपीकृष्ण प्रसाद के नाम लिखे उनके एक पत्र से चलता है। 10 जनवरी, 1950 ई. को लिखे पत्र का यह अंश देखें - 'संग्रह के काम में मैं जुट गया हूं। संग्रह फरवरी के अंत तक आप प्रेस में दे सकते हैं। 'किसान मार्च' के बाद 'रामराज' मैंने शुरू कर दिया है। इसके बाद डालमियानगर हड़ताल के आधार पर, लेकिन इसके लिए मुझे पटना आने की जरूरत होगी, मिल और मशिन के विभिन्न पुर्जों के नाम, कुछ टेकनिकल बातें यहां किससे पुछूं? 'रामधुन'। नेपाल में जो आग सुलग रही है उस पर 'चांदी की हथकड़ी'। कम-से-कम संग्रह के लिए चार और लिख डालूं क्या? आपको आश्चर्य होगा 'जै गंगा' और 'डायन कोशी' वगैरह भी मेरे पास नहीं। न रफ, न प्रकाशित। 'जै गंगा' और 'डायन कोसी' आप ऊपर कीजिए। ''इस पत्रांश से यह स्पष्ट है कि रेणु 1950 में ही अपने रिपोर्ताजों का संग्रह प्रकाशित करवाना चाहते थे किंतु वह हो न सका। उन्होंने 1945 से रिपोर्ताज लिखना प्रारंभ किया था और उनकी अंतिम रचना 'पटना : जलप्रलय' 1975 ई. में प्रकाशित रिपोर्ताज है। इस रिपोर्ताज की पहली किश्त 'कुत्ते की आवाज' शीर्षक से साप्ताहिक 'दिनमान' (संपादक-रघुवीर सहाय) के 21 सितंबर, 1975 के अंक में प्रकाशित होते ही राजकमल प्रकाशन की प्रबंध निदेशिका श्रीमती शीला संधू का पत्र उन्हें मिला। इसका उत्तर उन्होंने 24 सितंबर, 1975 ई. को लिखा- ''आदरणीय शीला जी, आपको 'टेलिपैथी' पर विश्वास हो या नहीं - मैं अपनी जिंदगी के अनुभवों से गुजर कर इस पर यकीन करता हूं। 'दिनमान' में बाढ़ का संस्मरण प्रकाशित होने जा रहा था और इसके साथ ही मैं सोच रहा था कि श्रीमती शीला जी से अभी ही अनुरोध कर दूं कि...। अतः अनुबंध-पत्र सहित आपका पत्र पाकर प्रसन्न और चकित हुआ। आपको अशेष धन्यवाद!''

इसी पत्र में आगे उन्होंने इस पुस्तक (जिसका बाद में उन्होंने नामकरण 'ऋणजल धनजल' रखा) की रूपरेखा बताते हुए आगे लिखा - ''किंतु, अव्वल तो यह कि इस बाढ़ के संस्मरण के साथ ही (अर्थात् प्रथम खंड में) जाएगा - बिहार का सूखा और अकाल वाला रिपोर्ताज : जो 'दिनमान' के पांच या सात अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। इन सभी अंकों के फाइल उपलब्ध हैं।''

रेणुजी ने इस पुस्तक की एक लंबी भूमिका लिखी थी, जिसमें प्राकृतिक प्रकोप के अनेक संस्मरण थे, जो डाक में गुम हो जाने के कारण छप नहीं सकी। उस भूमिका को वे दोबारा लिखकर भेज नहीं सके, जिसके कारण इस पुस्तक का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद बगैर उनकी भूमिका के ही करना पड़ा। इस संदर्भ में 12 फरवरी, 1976 ई. को शीला संधू के नाम लिखे उनके पत्र से विस्तृत जानकारी मिलती है - ''कल रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा किताब की (ऋणजल धनजल) भूमिका भेज रहा हूं। जिस दिन भूमिका लिखने बैठा चासनाला खदान की अभूतपूर्व दुर्घटना घट गई। भूमिका में 15 जनवरी, 1934 के भूकंप से लेकर अब तक के दैवी प्रकोपों (जिन्हें याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं) के छुट-पुट संस्मरण हैं। मैंने अपनी इन रचनाओं को 'जर्नल' कहा है। एक बात : मैं एक बार स्वयं प्रूफ की कॉपी देख लेना आवश्यक समझता हूं। मुझे गांव पर होली तक यानी मार्च के प्रथम सप्ताह तक रहना है। यदि आप कृपा कर प्रूफ की कॉपी मेरे गांव के पते पर भेज दें तो, मैं दूसरे ही दिन लौटती डाक से भेज दूंगा। एक दिन की भी देरी नहीं करूंगा। किताब का नाम 'ऋणजल धनजल' आपको कैसा लगा? मैं जो मैटर भेज रहा हूं वह पंद्रह-बीस पृष्ठ से कम नहीं होगा। आप अपनी सुविधा के अनुसार इसको भूमिका के रूप में पुस्तक के प्रारंभ में दे सकती हैं अथवा 'अंतिम अध्याय' यानी 'तीसरे लेख' की तरह। स्वस्थ हूं, प्रसन्न नहीं हूं। कल की डाक से मैटर भेज रहा हूं।''

शीला संधू ने रेणु के देहावसान के (11 अप्रैल, 1977 ई.) के बाद 'ऋणजल धनजल' की प्रकाशकीय टिप्पणी में इन बातों को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है : ''यह सच, एक दुखद सच है कि रेणुजी की भौतिक काया निःशेष हो चुकी है, लेकिन साथ-ही-साथ, यह भी

सच है कि रेणुजी हमारे बीच आज भी मौजूद हैं - अपने सम्मोहक व्यक्तित्व से जुड़ी स्मृतियों के रूप में, जो समय-असमय हमारे मन को झकझोरती और भारी कर जाती है; तथा उन अक्षर-कृतियों के रूप में, जो हमारे लिए और आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी रहेंगी। रेणुजी की यह कृति 'ऋणजल धनजल' कई दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व रखती है। पहली और मुख्य बात, कि बाढ़ और सूखे की दो अभूतपूर्व दुर्घटनाओं का यह ऐतिहासिक दस्तावेज है और दूसरी, कि इसके प्रकाशन की पूरी रूपरेखा तय करने के साथ-साथ इसका नामकरण तक उन्होंने स्वयं किया था, और इसके लिए पंद्रह-बीस पृष्ठों की एक भूमिका लिख चुकने की सूचना भी उन्होंने दी थी। किंतु, दुर्योगवश, वह महत्वपूर्ण भूमिका हमें उपलब्ध नहीं हुई और इसी बीच सहसा उन्होंने हमेशा-हमेशा के लिए आंखे मूंद लीं। रेणु के जीवनकाल में यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी, इसकी कचोट हमें हमेशा रहेगी। और, अब यह पुस्तक उनकी उस भूमिका के बगैर ही प्रकाशित हो रही है, यह दुहरा दुख भी उस कचोट में शामिल हो गया है। यह मूल्यवान धरोहर थी रेणुजी की, जिसे अब हम पाठकों के हाथ में दे रहे हैं। रेणुजी के प्रति हमारी यह मूक श्रद्धांजलि है।''

तात्पर्य यह कि 'ऋणजल धनजल' रेणु द्वारा तैयार की गई अंतिम पुस्तक थी और रिपोर्ताजों की पहली पुस्तक! यह कैसी विडंबना है कि 1950 ई. में ही वे अपने रिपोर्ताजों का संग्रह प्रकाशित करना चाह रहे थे, किंतु वह संग्रह छप न सका। वे 1957 ई. में इलाहाबाद में रहकर 'परती-परिकथा' उपन्यास लिख रहे थे। 20 मई, 1957 ई. को अमोघ नारायण झा को लिखे एक पत्र में वे बताते हैं, ''इधर कथा-संग्रह के संपादन में लगा हूं। फिर एक रिपोर्ताज संग्रह भी अगस्त तक प्रकाशक को दे देना चाहता हूं। व्यस्त हूं।'' किंतु, 1950 में रिपोर्ताज-संग्रह छपा, न 1957 में। उनके सभी रिपोर्ताज असंकलित रह गए। उनका पहला रिपोर्ताज-संग्रह 'ऋणजल धनजल' प्रकाशित तो हुआ, पर वे उसे देख भी नहीं पाए।

'ऋणजल धनजल' सूखा और अकाल के लिए गढ़ा हुआ उनका अपना शब्द है। जल का अभाव ही सूखा का कारण है, इसीलिए 'ऋणजल' और जल का बहुतायत में होना ही 'धनजल' है, जो बाढ़ का द्योतक है। गणित में माइनस को ऋण और प्लस को धन कहते हैं। इस तरह सूखे और बाढ़ के लिए यह रेणु द्वारा दिया हुआ नवीन शब्द बेहद अर्थव्यंजक है।

देशभर में आज भी सूखा-अकाल और बाढ़ एक समस्या है। यह जहां भी उपस्थित होता है, वहां के जनजीवन को तबाह कर देता है। यह एक ऐसी त्रसदी है, जिससे देश को अब तक निजात नहीं मिल पाई है। इससे हर वर्ष लाखों लोग मरते हैं, और विनाशलीला ऐसी होती है, जिसकी भरपाई मुश्किल है। ये ऐसी विभीषिकाएं हैं जो मुनष्य को अपने आघात से अभावग्रस्त ही नहीं बनाती, बल्कि उसे कभी-कभी अमानवीय भी बना देती हैं। कहीं तो मनुष्य इन परिस्थितियों में पड़कर अपने धैर्य, अपनी सहानुभूति, अपनी शक्ति, अपनी विनोदप्रियता की वास्तविक पहचान उभारता है और कहीं अपनी निरीहता, स्वार्थपरता, आसक्ति, मूल्यहीनता आदि का परिचय देता है। रेणु ने बाढ़ पर लिखे अपने रिपोर्ताजों में बाढ़ से संबंधित स्थितियों और मनःस्थितियों के अनेक पहलुओं का बड़ा जीवंत चित्रण किया है। शुरू में लोग बाढ़ आने के समाचार को बहुत विनोद के साथ लेते हैं और दूसरी जगह आई हुई बाढ़ की दहशत को महसूस नहीं करते। जब स्वयं बाढ़ में फंस जाते हैं तब उनका संत्रास शुरू होता है। 'पटना जलप्रलय' नामक रिपोर्ताज के प्रथम अध्याय में बाढ़ के आने का समाचार, उस समाचार के प्रति तरह-तरह की क्रियाओं, बाढ़ में घिर जाने की हालत में जीवनयापन के आवश्यक साधनों की चिंता, फिर बाढ़ के आने की गति और बाढ़ के आ जाने का चित्रण किया है। दूसरे अध्याय में बाढ़ में फंसे लोगों की स्थितियों, मनःस्थितियों, तमाशबीनों के दृश्यों और सरकारी मशीनरी की सक्रियता और निष्क्रियता आदि की तस्वीर तो खिची ही है, कुछ सरदारों द्वारा किए गए सहायता कार्य के अत्यंत मानवीय रूप को उभारा है। इसी प्रकार उन्होंने अन्य अध्यायों में भी बाढ़ के कुछ मानवीय और अमानवीय पक्षों का उद्घाटन किया है। तीसरे अध्याय में स्मृतियों के सहारे कुछ मार्मिक प्रसंगों को बाढ़ की विभीषिका के बीच मूर्त कर दिया है और चौथे में कलाकार मित्रों के आने और उनके द्वारा प्रदर्शित होने वाले प्रेम और सहकार्य का चित्रण किया गया है। इस प्रकार लेखक ने अपने अनुभवों को माध्यम बनाकर बाढ़ के एक वर्तुल बिंब का विधान किया है।

1975 ई. में पटना में आए बाढ़ पर लिखे रिपोर्ताज के अलग-अलग अध्यायों का रेणु ने अलग-अलग शीर्षक रखा है। पहले अध्याय का शीर्षक है-'कुत्ते की आवाज'। दूसरे अध्याय का शीर्षक है-'जो बोले सो निहाल'। तीसरे अध्याय का शीर्षक है-'पंछी की लाश'। चौथे अध्याय का शीर्षक है-'कलाकारों की रिलीफ पार्टी' और पांचवें अध्याय का शीर्षक है-'मानुष बने रहो'।

'कुत्ते की आवाज' नामक प्रथम अध्याय की शुरुआत रेणु आत्म-कथ्य के रूप में करते हुए बताते हैं - ''मेरा गांव ऐसे इलाके में है जहां हर साल पश्चिम, पूरब और दक्षिण की - कोशी, पनार, महानंदा और गंगा की - बाढ़ से पीड़ित प्राणियों के समूह पनाह लेते हैं, सावन-भादो में ट्रेन की खिड़कियों से विशाल और सपाट धरती पर गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरों के हजारों झुंड-मुंड देखकर ही लोग बाढ़ की विभीषिका का अंदाज लगाते हैं।'' आगे वे बताते हैं कि ''परती क्षेत्र में जन्म लेने के कारण अपने गांव के अधिकांश लोगों की तरह मैं भी तैरना नहीं जानता किंतु दस वर्ष की उम्र से पिछले साल तक - ब्वॉय स्कॉउट, स्वयंसेवक, राजनीतिक कार्यकर्ता अथवा

रिलीफ वर्कर की हैसियत से बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों में काम करता रहा हूं।'' यही कारण है कि बाढ़ का उनका अनुभव व्यापक है। इसी अध्याय में वे बाढ़ के कई दिलचस्प अनुभवों का भी स्मरण करते हैं और उनका वृत्तांत प्रस्तुत करते हैं। आगे वे बाढ़ पर लिखे अपने रिपोर्ताजों को याद करते हैं - ''और लिखने की बात? हाई स्कूल में बाढ़ पर लेख लिखकर प्रथम पुरस्कार पाने से लेकर - 'धर्मयुग' में 'कथादशक' के अंतर्गत बाढ़ की पुरानी कहानी को नए पाठ के साथ प्रस्तुत कर चुका हूं। 'जय गंगा' (1947), 'डायन कोशी' (1948), 'हड्डियों का पुल' (1948) आदि छुटपुट रिपोर्ताजों के अलावा मेरे कई उपन्यासों में बाढ़ की विनाश-लीलाओं के अनेक चित्र अंकित हुए हैं किंतु, गांव में रहते हुए बाढ़ से घिरने, बहने, फंसने और भोगने का अनुभव कभी नहीं हुआ। वह तो पटना शहर में 1967 में ही हुआ, जब अठारह घंटे की अविराम वृष्टि के कारण पुनपुन का पानी राजेंद्र नगर, कंकड़बाग तथा अन्य निचले हिस्सों में घुस आया था। अर्थात् बाढ़ को मैंने भोगा है, शहरी आदमी की हैसियत से। इसलिए इस बार जब बाढ़ का पानी प्रवेश करने लगा, पटना का पश्चिमी इलाका छाती भर पानी में डूब गया तो हम घर में ईंधन, आलू, मोमबत्ती, दियासलाई, सिगरेट, पीने का पानी और कांपोज की गोलियां जमा कर बैठ गए और प्रतीक्षा करने लगे।''

रेणु को बाढ़ का लंबा अनुभव था किंतु वे बाढ़ में घिरे पटना में। पहली बार, 1967 में कुछ दिनों के लिए और फिर 1975 ई. में। तब देश में इमर्जेंसी लगी हुई थी और उनकी मानसिकता पर इसका गहरा असर था, जिसका प्रच्छन्न प्रभाव इस रिपोर्ताज में व्यक्त हुआ है। उन्हें पेप्टिक अल्सर था और वे इसकी पीड़ा को लंबे समय से झेल रहे थे। इसलिए इस बाढ़ के दौरान वे राहत-कार्य के लिए गतिशील नहीं हो सकते थे। बाढ़ के बारे में उन्हें जो सूचना मिली या जो कुछ देखा, सुना, भोगा उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति की। बाढ़ कम होने पर उन्होंने अपने बड़े बेटे पद्मपराग राय वेणु को 8.9.1975 को पत्र लिखा - ''रेडियो तथा समाचार पत्रों से पटना का सारा समाचार मालूम ही होगा। एक सप्ताह तक हम लोग जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहे। भगवान की दया से ही हम लोग इस बार बच गए हैं। एक सप्ताह तक दिन-रात तुमलोगों की याद आती रही। कोई सहारा नहीं, कोई चारा नहीं कि तुम लोगों तक अपनी आखिरी संवाद भी दे सकें। अभी भी डाक तार ठीक से संभल नहीं पाया है। टेलीफोन तो अब तक काम नहीं कर रहा है। इस जल-प्रलय से ठीक एक दिन पहले चतुर्भुज के हाथ एक पत्र और दो सौ रुपये भेजा था, बस यही संतोष मन में होता था कि इस जल-प्रलय में शेष होने के पहले तुमको पत्र दे दिया था। समधी के प्रेस में कमर-भर पानी घुस गया था। डेरा के सामने छाती-भर पानी और नीचे वाले कमरे में घुटने भर पानी था। सात दिन तक हम लोग बाहर नहीं निकल सके। नीचे डुबान पानी था - पहली मंजिल के बरामदे और ऊपर वाली सीढ़ी पर आधे दूर तक पानी। अगर एक फुट भी पानी और बढ़ता तो यह मकान ढह जाता और हमलोग सब समाप्त हो जाते।''

तात्पर्य यह कि बाढ़ की इस विभीषिका को रेणु ने स्वयं झेला था, जिसमें यह दहशत भी थी कि कहीं जीवन-लीला ही समाप्त न हो जाए। बाढ़ का पानी धीरे-धीरे पटना शहर में घुस रहा है। लोगों की जुबान पर एक ही जिज्ञासा है कि पानी कहां तक आ गया है? बाढ़ को देखकर लौटते हुए लोगों की बातचीत- फ्रेजर रोड पर आ गया! आ गया क्या, पार कर गया। श्रीकृष्णपुरी, पाटलीपुत्र कॉलोनी, बोरिंग रोड, इंडस्ट्रियल एरिया का कहीं पता नहीं ... अब भट्टाचार्जी रोड पर पानी आ गया होगा। छाती भर पानी आ गया होगा। छाती भर पानी है। विमेंस कॉलिज के पास 'डुबाव-पानी' है। आ रहा है! ... आ गया!! ... घुस गया ... डूब गया ... बह गया। रेणु अपने कवि-मित्र के साथ घूमने निकले थे। इस बीच एक अधेड़, मुस्टंड और गंवार जोर-जोर से बोल उठा - ईह! जब दानापुर डूब रहा था तो पटनियां बाबू लोग उलट कर देखने भी नहीं गए ... अब बूझो! रेणु ने अपने आचार्य कवि-मित्र से कहा - पहचान लीजिए। यही है वह है वह 'आम आदमी', जिसकी खोज हर साहित्यिक गोष्ठियों में होती रहती है। उसके वक्तव्य में 'दानापुर' के बदले 'उत्तर बिहार' अथवा कोई भी बाढ़ग्रस्त ग्रामीण क्षेत्र जोड़ दीजिए।

रेणु देखते हैं कि लोग बाढ़ से आतंकित नहीं, बल्कि आज ज्यादा ही उत्साहित थे। वहां जो बातें उछाली जा रही थीं, उसे वे ध्यान से सुनते हैं - ''एक बार डूब ही जाए! ... धनुष्कोटि की तरह पटना लापता न हो जाए कहीं। सब पाप धुल जाएगा ... चलो, गोलघर के मुंडेरे पर ताश की गड्डी लेकर बैठ जाएं ... बिस्कोमान बिल्डिंग की छत पर क्यों नहीं? भई, यही माकूल मौका है। इनकम टैक्स वालों को ऐन इसी मौके पर काले कारोबारियों के घर पर छापा मारना चाहिए।''

यह है मौजूदा व्यवस्था पर आम आदमी की दो टूक टिप्पणी, जिसके मूल में आक्रोश है। यहां भीष्म साहनी के इस कथन की याद सहसा ही आती है। वे कहते हैं - ''आज की विषमताओं का विकराल रूप किसी से छिपा नहीं है। जहां हरिजनों को जिंदा जलाया जाए या नदी में जिंदा डूबो दिया जाए, जहां लाखों-लाख बेरोजगार शहरों और कस्बों की सड़कों पर घूमें, जहां सूखा और बाढ़, हर साल किसी महामारी की तरह आएं, और उसके सामने बस्तियां और गांव उजड़ते चले जाएं, जहां काला धन इतना प्रबल हो उठे कि देश की सरकार भी उसके सामने खम खाए, और उधर, बड़े-बड़े शहरों में गगनचुंबी भवन और इमारतें उठ रही हों, और सड़कों पर बढ़िया से बढ़िया कारें घूमती फिरे ...।''

रेणु आगे का वृत्तांत इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं- ''फुटपाथ पर खुली चाय की झुग्गी/दुकानों में सिगड़ियां सुलगी हुई थीं और बहुत रात तक मंडली बनाकर जोर-जोर से

बातें करने का रोज का सिलसिला जारी था। बात के पहले या बाद में बगैर कोई गाली जोड़े यहां नहीं बोला जाता - गांधी मैदान (सरवा) एकदम लबालब भर गया ... (अरे तेरी मतारी का) करंट में इतना जोर का फोर्स है कि (ससुरा) रिक्शा लगा कि उलटिये जाएगा ... गांजा फुरा गया का हो रामसिंगार? चल जाए एक चिलम 'बालचरी-माल' - फिर यह शहर (बेट्चः) डूबे या ऊबरे।

यह है आम आदमी की मानसिकता! वह तनाव में नहीं रह सकता। पटना शहर डूब रहा है। धीरे-धीरे पटने के एक-एक मुहल्ले में पानी भरता जा रहा है। कुछ घंटों में पानी उस तक भी पहुंच जाएगा किंतु यह 'आम आदमी' निर्भय है, निर्द्वंद्व है, बेलौस है। उसे कोई चिंता नहीं है। गांजे की एक चिलम चल जाए, फिर यह पटना शहर डूबे या बचे, कोई चिंता नहीं। किंतु, आने वाले संकट को अपने 'सिक्स्थ सेंस' के कारण कुत्ते भांप लेते हैं और एक-दूसरे से सुर मिलाकर रोना शुरू कर देते हैं। करुण आर्त्तनाद की भयोत्पादक प्रतिध्वनियां सुनकर रेणु की काया सिहर उठती है। वे अपनी पत्नी से कहते हैं - याद है! उस बार जब पुनपुन का पानी आया था तो सबसे अधिक इन कुत्तों की दुर्दशा हुई थी। रेणु की मानवीय करुणा उन्हें मनुष्यों ही नहीं जीव-जंतुओं के प्रति भी संवेदनशील बनाती है। वे 1949 ई. की बाढ़ की याद करते हैं- ''उस बार महानंदा की बाढ़ से घिरे बायसी थाना के एक गांव में हम पहुंचे। हमारी नाव पर रिलीफ के डॉक्टर साहब थे। गांव के कई बीमारों को नाव पर चढ़ाकर कैंप में ले जाता था। एक बीमार नौजवान के साथ उसका कुत्ता भी 'कुंई-कुंई' करता हुआ नाव पर चढ़ आया। डॉक्टर साहब कुत्ते को देखकर 'भीषण भयभीत' हो गए और चिल्लाने लगे - आ रे! कुकुर नहीं, कुकुर नहीं ...कुकुर को भगाओ! बीमार नौजवान छपू-से पानी में उतर गया, हमारा कुकुर नहीं जाएगा तो हम हुं नहीं जाएगा! फिर कुत्ता भी छपाक् पानी में गिरा, हमारा आदमी नहीं जाएगा तो हम हुं नहीं जाएगा।

यह है मनुष्य और कुत्ते का भावात्मक संबंध, जो सदियों से चला आ रहा है। रेणु जीवन के लघु प्रसंगों को मानवीय संस्पर्श में इस तरह पिरोते हैं कि वह अत्यंत मर्मस्पर्शी बन जाता है। दूसरे लेखक इस प्रकार के प्रसंगों को प्रायः अनदेखा कर जाते हैं, किंतु रेणु इन्हीं गौण प्रसंगों से अपनी कथा को सजाते हैं और वह जीवंत कलाकृति बन जाती है। इतनी मार्मिक और विरल संवेदनशीलता, जो आज के कथा-साहित्य से प्रायः ओझल होता जा रहा है, रेणु की कथाकृतियों को अब भी जीवंत और प्रासंगिक बनाए हुए हैं। उनके कथा-रिपोर्ताज भी इससे वंचित नहीं हैं। वे सीमांत के आदमी के जीवन पर गहरी नजर रखते हैं और इतनी गरीबी, अभाव एवं संकटों से भरे हुए जीवन में पैठ कर उसके जिंदादिली एवं जिजीविषा को रेखांकित करते हैं। वे बाढ़ जैसे महाविनाश में घिरे हुए बेसहारा लोगों के साथ, जीव-जंतुओं की भी खबर देते हैं। सड़क पर पलनेवाले कुत्तों की भी उन्हें चिंता सताती है।

रेणु के कथा-रिपोर्ताज में राजनीतिक समस्या : राजनीति देश और समाज का सर्वाधिक क्रियाशील एवं गतिशील पहलू है। यह विभिन्न कोणों से जन-जीवन को प्रभावित करती है। मौजूदा जीवन राजनीति से उद्वेलित एवं संचालित है। सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति किसी भी स्थिति में राजनीति से अप्रभावित नहीं रह सकता। सामाजिक जीवन को व्याख्यायित करते समय राजनीतिक प्रभाव को जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। आज के समाज में राजनीति का प्रवेश बेहद सूक्ष्म रूप में हो चुका है और समाज का हर प्राणी उससे प्रभावित है। किंतु, राजनीति के अनेक स्तर हैं। विचारधाराओं एवं मान्यताओं के आधार पर अनेक राजनीतिक दल हैं और हर आदमी की राजनीति उसकी दशा एवं दिशा को तय करती है। मुक्तिबोध से जब कोई लेखक मिलता था तो उससे वे पूछते थे - पार्टनर, आपकी राजनीति क्या है? रेणु की भी अपनी राजनीति थी, जो समय एवं परिस्थितियों के साथ बदलती गई थी। पहले वे उस समाजवादी पार्टी के अंग थे, जिसकी मुख्य देन बिहार का किसान-आंदोलन था, जिसका उद्देश्य था- किसान-मजदूर राज कायम करना। अनेक किसान-सभा के कार्यक्रम शुरू होने के पहले रेणु अपने जीवन के प्रारंभिक दौर में ही मंच पर उपस्थित होकर किसानों के बीच जागृति लाने के लिए गीत गाते थे। उनके शब्द देखें : ''राजनीति करता था, सभाओं में मुख्य वक्ताओं तथा नेताओं के भाषण के पहले, भीड़ शांत करने के लिए, गीत से भुलाए रखने के लिए मेरी जरूरत होती, और साथ में घुंघरू वाली खंजनी लेकर मैं मंच पर अलापता हुआ प्रकट होता - भैया किसनवां हो, दुश्मन तोहर बड़का ज-मीं-दा-आ-आ-र ...!''

रेणु के प्रारंभिक जीवन में ही राजनीति का प्रवेश हो चुका था। जब वे बनारस में पढ़ते थे, तब छात्र-आंदोलन में सक्रिय थे और पढ़ाई छोड़कर जब गांव आए, तब सक्रिय रूप से स्वाधीनता-संघर्ष और किसान-आंदोलन में भाग लेने लगे। इस संदर्भ की जानकारी उनकी 11 दिसंबर, 1941 ई. को समाजवादी आंदोलन के उनके साथी कन्हैयालाल वर्मा को लिखे गए पत्र से मिलती है। तब रेणु इक्कीस वर्ष के थे और अपने गांव औराही में अखिल भारतीय किसान सभा का एक अधिवेशन करवा रहे थे। कन्हैया लाल वर्मा को वे लिखते हैं : ''तुम्हारे पत्र से पता चल गया कि तुम वास्तव में काफी अस्वस्थ हो। तुम्हें इतना भी पता नहीं कि अखिल भारतीय किसान सभा का अधिवेशन किस मास में होने जा रहा है। साथी मधु के कथनानुसार - तथा प्रांत से चंद आई हुई चिट्ठियों से तो यही पता चला है कि उपरोक्त अधिवेशन दिसंबर के अंतिम सप्ताह में न होकर जनवरी अथवा फरवरी में होने जा रहा है।'' रेणु के गुरु रामदेनी तिवारी 'द्विजदेनी' ने उनमें स्वाधीनता-संघर्ष की चेतना भर दी थी एवं जन-जागरण के लिए किसानों के बीच

काम करने की सक्रियता को देखकर वे काफी खुश होते थे। उसी पत्र में आगे रेणु जो कुछ लिखते हैं, उससे उनकी क्रांतिकारी राजनीतिक चेतना के स्वरूप का पता लगता है। यह ध्यान देने की बात है कि तब वे 21 वर्ष के थे और पटना के समाजवादी आंदोलन से जुड़े बड़े व्यक्तित्व से उनका संबंध बन चुका था, मसलन श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, गंगाशरण सिंह, बसावन सिंह, रामनंदन मिश्र, अहद फातमी, अबुल हयात चांद आदि से। रेणु अपने इलाके में तो लगातार सक्रिय थे ही, जिसके कारण उन्हें तब के प्रमुख क्रांतिकरियों में गिना जाता था। वे किस 'स्पिरिट' के थे या उस वक्त किस तरह की मानसिकता रखते थे, इसका पता इसी पत्र के इस अंश से प्रकट होता है - ''दकियानूसी कांग्रेसियों की हरकतों से जनता निराशा-अविश्वास की घाटी की ओर अभिमुख है। यही समय है जबर्दस्त संगठन का। सम्मेलन के बाद 'शरद व्याख्यान माला' में शामिल होकर जिले के विभिन्न गांवों में घूम-घूमकर कुछ साथियों को बोलने के लिए रह जाना होगा। मिल एरियाओं में मजदूर यूनियन कायम करना है। काम करना है काम। नए क्षेत्र में। हिटलर आए या जापानी - किसान रहेंगे ही। अगर यह सब कुछ नहीं होगा तो सुनो - एक छोटी-सी किसान सभा करके, 'अंग्रेजीराज का नाश हो' का नारा लगाकर अथवा (बिना लाइसेंस के ही सही) सत्याग्रह कर दूंगा - पकड़ता तो 'जमूनवा' है ही - बस जेल चला जाऊंगा। न बाहर रहूंगा, न। अकर्मण्य होकर कहीं बैठने से वहीं बैठना अच्छा है। यदि-यदि नहीं हो सकेगा तो - 'लड़ाई में' भर्ती हो जाऊंगा - फिर अपना पाजामा खराब करके ही सही - शहीद हो जाऊंगा - स्वर्ग मिलेगा - रणक्षेत्र में मरने से। कुछ करते-करते मरना ही स्वर्ग।'' इस तरह हम पाते हैं कि रेणु के प्रारंभिक जीवन में ही देश और समाज के लिए कुछ महत्वपूर्ण कर गुजरने की अदम्य इच्छा थी, तीव्र छटपटाहट थी। वे इसीलिए कभी चैन से नहीं बैठे। राजनीति उनके खून में रची-बसी थी। पर यह राजनीति समाज को बदलने के लिए थी, स्वाधीनता के लिए थी, जन-जागरण पैदा करने के लिए थी। राजनीति उनके लिए तप, साधना और समर्पण थी। वे कोई पद या कुर्सी पाने के लिए राजनीति में नहीं उतरे थे अपितु उन्होंने ऐसे झूठे राजनेताओं पर जमकर प्रहार किया है जो जनता के नाम पर गद्दी पर बैठते हैं और उनके जीवन का उद्देश्य होता है-भोग, वासना और धन कमाने की हवस। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है - ''जनता के नामे गद्दी चढ़ बैठे झुट्टन के सरताज/गांधी के सत्य अहिंसा रोए, रोवत राम के राज।'' रेणु अपने गांव में अखिल भारतीय किसान सभा का अधिवेशन कर रहे थे और उनके मित्र गायब हो गए थे। वे ऐसी स्थिति में व्यंग्य-विनोदपूर्ण कुछ बातें कह जाते हैं, जिससे पता चलता है कि 1941 ई. में ही उनकी भाषा-शैली परिपक्व हो चुकी थी - ''तिवारीजी का भला करे उनका ईश्वर, कल भेंट हुई तो इस कदर उन्होंने मुझे सच्चे हृदय से उत्साहित किया कि मैं अपने यहां के सभी कॉमरेडों को मन ही मन 'कम्युनिस्टी भाषा' में गाली देने लगा। बरसाती मेंढ़कों की तरह से उपजे कॉमरेडों की भी कुछ खबर नहीं। ... बेनीपुरी जी की गिरफ्तारी, तुम्हारी चुप्पी, कोष खाली, कार्य के साधन कागजात नहीं, मधु की शैतानी, कॉमरेडों की बेवफाई, फिर तुम्हारा दुख-दर्द भरा पत्र, अखिल भारतीय किसान सम्मेलन की तिथि की सुविधा - मैं मर गया कान्हा-हतोत्साहित होना और मरना बराबर। 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' कहने वालों की कमी है नहीं, जानकर अनजान बनकर प्रश्न (व्यंग्यपूर्ण) करने वाले कदम-कदम पर रास्ता रोककर खड़े हो जाते हैं। मैं तो अपनी 'सांप-छुछुंदरी' दशा का दिग्दर्शन मात्र ही कराना चाहता हूं।'' ऐसी थी युवा रेणु की राजनीतिक चेतना जो जन-जागरण के लिए कितनी तड़प और बेचैनी भरी थी। 1942 ई. के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में उनकी सक्रियता इतनी बढ़ गई थी कि वे अपने जिले के प्रमुख क्रांतिकारियों में विख्यात हो चुके थे। इस आंदोलन में ही उन्हें गिरफ्तार कर इतनी यातना दी गई थी कि उनकी काया रोगग्रस्त और जर्जर हो गई थी। जेल से ही उन्हें पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल लाया गया था। वे कुछ स्वस्थ होते थे, जनांदोलन में भाग लेते थे फिर जेल जाते थे या अस्पताल। 1946 ई. में वे पुनः पटना अस्पताल में भर्ती हुए थे। टी. बी. के कीटाणु उनके शरीर को खोखला कर रहे थे। तभी उन्होंने अस्पताल में पड़े-पड़े एक रिपोर्ताजनुमा कहानी लिखी थी - 'बीमारों की दुनिया में'। यह रचना कलकत्ते के मासिक 'विश्वमित्र' के दिसंबर अंक में छपी थी। इसमें रेणु ने अपना नाम बीरेन रखा है। इसके कुछ अंश को देखें -

''उस बार महानंदा की बाढ़ से घिरे बायसी थाना के एक गांव में हम पहुंचे। हमारी नाव पर रिलीफ के डॉक्टर साहब थे। गांव के कई बीमारों को नाव पर चढ़ाकर कैंप में ले जाता था। एक बीमार नौजवान के साथ उसका कुत्ता भी 'कुंई-कुंई' करता हुआ नाव पर चढ़ आया। डॉक्टर साहब कुत्ते को देखकर 'भीषण भयभीत' हो गए और चिल्लाने लगे - आ रे! कुकुर नहीं, कुकुर नहीं ...कुकुर को भगाओ! बीमार नौजवान छपू-से पानी में उतर गया, हमारा कुकुर नहीं जाएगा तो हमहूं नहीं जाएगा! फिर कुत्ता भी छपाक् पानी में गिरा, हमारा आदमी नहीं जाएगा तो हमहूं नहीं जाएगा।

''मजदूर राज्य कायम हो!
इंकलाब! जिंदाबाद!!

चिलचिलाती हुई धूप में, मजदूरों का एक विशाल जुलूस सड़क से गुजर रहा

था। बीरेन ने खिड़की से देखा - बड़ा लंबा चौड़ा जुलूस था। जुलूस दूर निकल गया था लेकिन नारों की आवाज अब भी सुनाई पड़ रही थी - 'जयप्रकाश! जिंदाबाद!!' फिर अहमद आता है, (जो दरअसल रेणु के मित्र अहद फादमी थे जो बताते हैं) - ''42 के जुल्मी ऑफिसरों की जुल्मों की लिस्ट तैयार करना है। तुम्हारा केस तो काफी वजनी रहेगा। तुम लिख डालो। हम उन जुल्मियों को खुली अदालत में लाकर छोड़ेंगे।'' रात को बीरेन (अर्थात् रेणु) लेटे-लेटे ताना-बाना बुनने लगा! अतीत की कुछ धुंधली और बिखरी हुई स्मृतियां - हरे पेड़-पल्लवों से लदा उसका प्यारा गांव, उसकी मां - स्नेहमयी, करुणामयी, प्यारी बहन बन्नो। फिर बनारस के दिन, शैला 1942 की क्रांति, लाठी चार्ज, कठोर कारावास, जेल का भीषण लाठी चार्ज, बीमारी, अस्पताल, कृष्णम् गोपी, सिनहा, रियासत और अहद सबके सब रण बांकुरे हैं।''

यहां जो नाम आए हैं वे रेणु के मित्र हैं - गोपी कृष्ण, विश्वमोहन सिन्हा, अहद फातमी, रियासत आदि उस समय समाजवादी आंदोलन से जुटे थे। गोपीकृष्ण प्रसाद ने रेणु पर एक पुस्तक लिखी है - 'फणीश्वरनाथ रेणु : व्यक्तित्व, काल और कृतियां', जिसमें विस्तार से रेणु और उनके परिवेश को दर्शाया गया है।

अपने रिपोर्ताज में रेणु यह भी स्थापित करते हैं कि कैसे कांग्रेसी लोग जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद इंदिरा गांधी को उनकी जगह प्रस्तुत कर अपनी पार्टी को मजबूत ही नहीं करते, अपितु उसका जनाधार भी निर्मित करते हैं। ''बिहार प्रदेश के कांग्रेसियों की चतुराई की तारीफ करनी चाहिए। वे जानते थे कि पंडित नेहरू के बाद ही देश से अचानक 'वीरपूजा' की भावना मिट नहीं जाएगी। नेहरू सदैव 'समाचार' रहे - उनकी एकमात्र और लायक सुपुत्री के लिए कम-से-कम बिहार में वही 'खुट्टा तोड़ भीड़' उमड़ेगी।'' और ''पहली बार, एक ही दिन में समस्त उत्तर बिहार के प्रमुख स्थानों की सभाओं में दर्शन और भाषण देकर जब वह छह बजे पटना पहुंची, तो यहां 'गांधी मैदान भर' जनता तीन बजे दिन से ही आकाश की ओर आंखें लगाए प्रतीक्षा कर रही थी। असंख्य नरमुंडों के ऊपर, मंच पर अचानक नीली साड़ी में प्रकट हुई-चारों ओर घूम-घूमकर नमस्कार करती हुई इस महिला को दूर से ही देखकर - एक देहाती बूढ़ी फूट-फूट कर रो रही थी और कह रही थी - ''एकर बप्पा रहलिए हलत अइसन रने-बने काहे'' - अर्थात् अहा! आज बेचारी का बाप रहता तो यह इस तरह अरण्य वन में क्यों भटकती फिरती। उसी दिन दोपहर को फारबिसगंज की सभा में - भारत तथा नेपाल की तराई के गांवों के लोग रात से ही सभा-स्थल पर जमा होने लगे थे। गांव खाली, खेती-मजदूरी, काम-धंधा बिलकुल बंद - बस, एक झलक देखने के लिए - बड़े बाप की बड़ी बेटी को!''

भारतीय जन-मानस की इसी वजह के कारण कांग्रेस का राजनीतिक व्यापार चलता रहा है। तब इंदिरा गांधी सूचना-प्रसारण मंत्री थी और लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री। लाल बहादुर शास्त्री के जनवरी, 1966 ई. में देहावसान के बाद कांग्रेस-दल ने इसी 'वीरपूजा' एवं जन-मानस की भावुकता के कारण इंदिरा गांधी को प्रधानमंत्री की गद्दी पर बिठाया। इंदिरा के बाद संजय गांधी, राजीव गांधी, सोनिया गांधी, राहुल और प्रियंका तक यह परंपरा चली आ रही है। रेणु मानते थे कि इस मानसिकता को बदलने की जरूरत है।

1965 ई. के मई में आयोजित हजारीबाग के कांग्रेस अधिवेशन में इंदिरा गांधी को देखने के लिए अपार भीड़ उमड़ी। रेणु इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं - ''उमड़ती हुई भीड़ को देखकर इस बार इंदिरा गांधी के चेहरे पर भी वही पैतृक दमक खेल गई, क्षण भर के लिए।'' इस सम्मेलन के बाद कांग्रेस दल के भीतर और बाहर कई खेल जारी हो गए। दल में भी कई दल सक्रिय हो गए। रेणु लिखते हैं - दल के भीतर ही एक नया दल। कांग्रेस से उनका अलग होना उन्हें और भी कमजोर बनाएगा और तब संभव है कि उसमें से कुछ लोग स्वंतत्र-दल में चले जाएं।''

1965 ई. में ही अकाल के दृश्य उपस्थित होने लगे। इसे राजनीतिक व्यवस्था द्वारा ही उपस्थित किया गया था। रेणु ने 'भूखभूखभूखभूः' शीर्षक रिपोर्ताज के प्रारंभ में ही लिखा है-''उपज अच्छी होने के बावजूद इस बार अप्रैल-मई में ही सारे बिहार से 'अन्नपूर्णा' अंतर्ध्यान हो गई। कहीं एक चुटकी न चावल है न गेहूं। लू की लपट में सारे प्रदेश की हरियाली झुलस रही है। भूख की ज्वाला में लाखों लोग जल रहे हैं। जिन जिलों को धान-चावल का भंडार कहा जाता है - वहां के गांवों में कई सप्ताह से चूल्हे नहीं सुलग रहे हैं। कच्चे आम, कटहल, जंगली कंद और करमी का साग भी अब मयस्सर नहीं। भूखों की बिलबिलाती टोलियां कस्बों और शहरों की ओर बढ़ रही है। बिहार के खाद्यमंत्री मुंगेरी लाल को इस पर काफी चिंता और अचरज हुआ, इसमें संदेह नहीं। वे लोगों को इस अन्न-संकट के कारण बतलाते हुए फिरते हैं। भूखी जनता से हमदर्दी दिखला कर बातें करते हैं, लेकिन बातों से पेट भरने की कला में प्रवीण लोगों को इस बार ज्ञात हो जाएगा कि भूखे लोगों को सत्संग और भजन नहीं -सचमुच अन्न चाहिए और भूख से दम तोड़ते हुए लोगों को यह पता है कि हाल ही में हजारीबाग में 'खा-पीकर अघाए' हुए लोगों ने 'विशाल अन्न ध्वंस यज्ञ' संपन्न किया है।'' रेणु का यह रिपोर्ताज 'दिनमान' के 6 जून, 1965 के अंक में प्रकाशित हुआ था और उन्होंने यह पहली बार स्थापित किया था कि अन्न संकट और भूखमरी की यह समस्या आगे जाकर भयावह रूप धारण करने वाली है और 1966 ई. में अकाल का अविस्मरणीय और मारक परिदृश्य मध्य बिहार में उपस्थित हुआ, जिसका अज्ञेय के साथ दौरा कर रेणु ने जीवंत संस्मरणात्मक रिपोर्ताज लिखा -

भूमि-दर्शन की भूमिका।

फरवरी, 1967 ई. के प्रारंभ में बिहार में चुनाव होता है। इस चुनाव का ऐतिहासिक महत्व इस बात के लिए है कि इसमें पहली बार कांग्रेस पराजित होती है। रेणु ने चुनाव की प्रक्रिया पर चुटीली भाषा में रिपोर्ताज लिखा है - 'चुनाव-लीला : बिहारी तर्ज'। इसका प्रारंभ इस प्रकार होता है : ''पर्दा उठने के पहले - पृष्ठभूमि में हजारों-हजार एकड़ सूखी धरती पर भूख से छटपटाते हुए लोगों का हाहाकार। पटना में डेढ़ महीने तक (शासक दल के) 'जनता के सेवकों' की चीख-पुकार। फिर, दिल्ली की दौड़ और दिल्ली से लौटी हुई विक्षुब्ध और अशांत लहरें राज्य के हर जिले पर पछाड़ें खाकर सिर धुन रही हैं। 'जन कांग्रेस' के बाद बिहार में 'जनक्रांति दल' का जन्म हुआ - हाथ में एक जलता हुआ मशाल लेकर।'' और इस प्रसंग की समाप्ति इन पंक्तियों के साथ - ''चारों ओर सूखा और अकाल का हाहाकार! राजनीतिक दलों का जय-जयकार! जनमत प्राप्त करने के लिए 'जननायकों' के धुआंधार प्रचार की तैयारी। हवा में उड़ते अनेक पताकाओं के साथ एक नया झंडा- एक नई पार्टी का और उसका 'प्रतीक' - हाथ में जलता और लपलपाता हुआ मशाल!''

फिर 'पर्दा उठता है' और 5 जनवरी, 1967 ई. को दोपहर गोलघर के मुहाने के दाहिने, आसमान में घोर काले धुएं का विशाल और भयानक गुब्बारा दिखाई पड़ता है। लोग जमा होते हैं और मुख्यमंत्री के आवास में पथराव किया जाता है। खादी भवन और बस डिपो में आग लगा दी जाती है। फिर आंदोलनकारियों पर लाठी-चार्ज और अश्रु-गैस का प्रयोग किया जाता है और फिर शासन की ओर से गोली चलवा दी जाती है। इस तरह ''चुनाव-लीला शुरू हो गई। अब देखना है कि बिहार के मुख्यमंत्री, कांग्रेस के घर में लगी इस आग को किस तरह बुझाते हैं।''

रेणु इस क्रम में यह बताते हैं कि ''1930-31 में विलायती कपड़े की गांठों में और 'यूनियन जैक' में आग लगाकर लोग 'देशभक्ति' का परिचय देते थे। 1967 में खादी, तिरंगा-झंडा और गांधी-टोपी में आग लगाकर।'' वे यह भी दर्ज करते हैं कि ''बंगला के भूखी पीढ़ी के लेखकों का कहना ठीक ही है, शायद - 'राजनीतिक व्यक्तियों की जगह गदहे की पूंछ और छिनाल ...!''

1942 ई. के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में उनकी सक्रियता इतनी बढ़ गई थी कि वे अपने जिले के प्रमुख क्रांतिकारियों में विख्यात हो चुके थे। इस आंदोलन में ही उन्हें गिरफ्तार कर इतनी यातना दी गई थी कि उनकी काया रोगग्रस्त और जर्जर हो गई थी।

चुनाव परिणाम आने के बाद पहली बार बिहार में कांग्रेस पार्टी पराजित हुई और पांच दलों ने मिलकर साझे की सरकार बनाई। रेणु लिखते हैं - ''कृष्णबल्लभ सहाय की किस्मत के साथ बिहार के बीस वर्षीय 'कांग्रेसी राज' का सूरज डूब गया। दो दशक पहले, सर्वप्रथम कांग्रेसी मुख्यमंत्री (स्वर्गीय) श्रीकृष्ण सिंह ने जिस कांग्रेसी सरकार की नींव डाली - उसकी कब्र पर कृष्णबल्लभ सहाय को अंतिम और पराजित मुख्यमंत्री की हैसियत से मिट्टी डालनी पड़ी।'' इस साझे की सरकार में एक दूसरे के धुर विरोधी पार्टियों ने कांग्रेस विरोध के नाम पर संयुक्त समाजवादी दल, कम्युनिस्ट पार्टी, राजा रामगढ़ की नई पार्टी - जनक्रांति दल और जनसंघ ने एक पंगत में बैठना स्वीकार किया। रेणु इस पर टिप्पणी करते हैं - ''यों, ऊपर से देखने पर यह 'मेल' जरा बेमेल, भानुमती का कुनबा और अस्थाई लग सकता है। लेकिन यह तय है कि बीस वर्षों से लगातार तबाह और बरबाद राज्य की पीड़ित जनता के दुख-दर्द को दूर करने के लिए कांग्रेस का विरोध करते रहना यानी कांग्रेस को सरकार से बाहर रोके रहना हर दल का अब पहला कर्तव्य होगा और एक बार मिल-जुलकर काम करने का मीठा फल पाने के बाद कौन ऐसा दल है, जो मिलजुल कर काम करना नही चाहेगा?'' इस 'साझे की सरकार' का पूरा वृत्तांत बताने के बाद रेणु लोगों की मानसिकता को भी उजागर करना नहीं भूलते - ''लेकिन, इन सारी बातों के बावजूद हर जगह, हर समय, कोई-न-कोई शक्की पूछ बैठता है - 'चल सकेगी यह सरकार? ... कितने दिन चलेगी यह सरकार? ... चलेगी भी?' इन शंकाओं के मूल में 'पर-श्री कातरता' के अलावा वही हीन-भावना काम कर रही है, जो अंग्रेजी राज में समझती थी कि अंग्रेजों के जाने के बाद भारतीय शासन को संभाल सकेंगे। एक और सवाल है, जो बार-बार पूछा जाता है - क्या इस सरकार को चलने दिया जाएगा?'' 'जनूनी तूफान : बाखबर और बेखबर जन' नामक रिपोर्ताज में रेणु बिहार में पहली बार हिंदी-उर्दू विवाद के राजनीतिक कारणों की तलाश कर अंत में लिखते हैं - ''उर्दू को बिहार की 'दूसरी भाषा' बनाने की बात पर नागार्जुन अंत तक विरोध करते रहेंगे-ऐसा उन्होंने जोर देकर कहा है। लेकिन, कोई जोर देकर यह नहीं कहता कि अब ऐसा रक्तपात-भाषा के नाम पर - कभी नहीं होगा; क्योंकि हम सभी सब कुछ जानकर भी अनजान बने रहने का बहाना करते हैं अथवा कुछ नहीं जानते हुए भी सबकुछ जानने का दम भरते हैं।'' और इसका अंत, इस वाक्य से होता है - ''... राजनीति तेरो गति लखि ना परे!!''

इस तरह हम पाते हैं कि रेणु के रिपोर्ताजों में बिहार की और प्रकारांतर से राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं का विस्तृत चित्रण किया गया है। इस चित्रण में व्यंग्य है और तत्कालीन राजनीति पर असहमति की मुद्रा है। रेणु किसी पार्टी, किसी नेता, किसी विचारधारा के साथ नहीं खड़े हैं, अपितु हर जगह वे जन-जीवन के पक्षधर हैं। साधारण मनुष्य के विरोध में जो राजनीति खड़ी दिखाई पड़ती है वे उसके विपक्ष की भूमिका अपने रिपोर्ताजों में निभाते हैं। उनकी रचनाशीलता के जीवंत होने का यह प्रमाण है। ■

आदिवासी साहित्य : अवधारणा और इतिहास

गंगा सहाय मीणा
दलित चिंतक

संपर्क : एसोशिएट प्रोफेसर,
भारतीय भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

आदिवासी साहित्य के नाम पर किए जा रहे शोधों में से काफी मात्रा में ऐसे भी हैं जिनका आदिवासी समाज और साहित्य से कोई सीधा संबंध ही नहीं बनता। वस्तुस्थिति यह है कि आदिवासी जीवन और समाज पर गैर-आदिवासी रचनाकारों के कहानी, उपन्यास, प्रशंसा, पाठ्यक्रम और पुरस्कार पा रहे हैं तथा दो-एक आदिवासी रचनाकारों को छोड़कर सैकड़ों की संख्या में सक्रिय आदिवासी कवि-लेखक उपेक्षा के शिकार हैं।

इन दिनों आदिवासी समाज और साहित्य पर काफी बातें हो रही हैं जबकि वह अनगिनत चुनौतियों से जूझ रहा है। आदिवासियों की समस्याएं सुलझने के बजाए और उलझती जा रही है। इसकी सबसे बड़ी वजह आदिवासी जीवन और समाज से बाहरी समाज और सरकारों का अपरिचय और उपेक्षापूर्ण रवैया है। आदिवासी समाज से संवाद में आदिवासी साहित्य एक सशक्त माध्यम बन सकता है। आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक परंपरा के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति और जीवन दृष्टि के बुनियादी तत्वों की पहचान कर सकते हैं। वहीं समकालीन आदिवासी लेखन आदिवासी समाज और जीवन में हो रहे बदलावों से हमें रू-ब-रू कराता है।

आदिवासी साहित्य पर आ रही किताबें और शोध भ्रमों का निर्माण और दोहराव ही अधिक कर रहे हैं इसलिए आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ का निर्माण करना बहुत जरूरी है। हालांकि स्वयं आदिवासी जीवन और समाज किसी प्रकार के शास्त्र या सिद्धांतों का बंधन नहीं मानता, लेकिन आदिवासी साहित्य के बारे में फैल रहे भ्रमों के निराकरण के लिए कुछ बुनियादी सवालों पर बात करना जरूरी है। इस संदर्भ में सबसे बुनियादी सवाल यही है कि आखिर हम आदिवासी साहित्य किसे कहेंगे? हिंदी के दो अन्य अस्मितावादी विमर्शों को देखें तो यह लगभग स्वीकृत हो चुका है कि स्त्रियों की समस्या पर स्त्रियों द्वारा लिखे साहित्य को स्त्रीवादी साहित्य और इसी तर्ज पर दलितों की समस्याओं पर दलित रचनाकारों के रचनात्मक हस्तक्षेप को दलित साहित्य की श्रेणी में रखेंगे। दलित साहित्य के विरोधियों ने 'स्वानुभूति' के सवाल पर खूब हल्ला मचाया लेकिन बड़ी संख्या में दलितों के प्रतिरोध ने दलित साहित्य विषयक दलित आलोचकों की स्थापनाओं को मनवा ही लिया।

आदिवासी साहित्य के अध्येता प्रो. वीर भारत तलवार ने तद्भव-34 में छपे अपने लेख में आदिवासी संबंधी साहित्य की चार श्रेणियां बनाई हैं- ''1. पहली श्रेणी में कुछ ऐसे लेखक हैं जो आदिवासी समाज के बारे में बहुत कम और सतही जानकारी रखते हैं और साथ ही अपने सवर्ण हिंदू संस्कारों से ग्रस्त हैं, अपने सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं और उसी दृष्टि से आदिवासी समाज को चित्रित करते हैं। 2. दूसरी श्रेणी उन लेखकों की है जो लंबे समय से आदिवासियों के करीब रहते आए हैं और उनसे पूरी सहानुभूति रखते हैं, उनके समाज से थोड़ा-बहुत वाकिफ भी हैं। इनकी मुख्य प्रवृत्ति आदिवासियों के दमन, शोषण और उत्पीड़न को चित्रित करने और उनकी आर्थिक राजनीतिक समस्याओं को उठाने की है। 3. तीसरी श्रेणी उन लेखकों का साहित्य जो आदिवासियों के बीच लंबे समय तक रहे हैं, जिन्होंने उनका अच्छा-बुरा देखा है और उनकी प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास किया है। और 4. चौथी श्रेणी खुद आदिवासियों द्वारा लिखे साहित्य की है। वह उन्होंने अपनी मूल भाषाओं में लिखा हो या हिंदी, बांग्ला या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में, इससे फर्क नहीं पड़ता।'' इन चार श्रेणियों में से वीर भारत तलवार चौथी श्रेणी को ही प्रामाणिक आदिवासी साहित्य मानते हैं और शेष तीन श्रेणियों को आदिवासी संबंधी साहित्य। चौथी श्रेणी, यानी स्वयं आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य के बारे में वे लिखते हैं, ''इसकी गुणवत्ता बिलकुल अलग किस्म की है। आदिवासियों के जीवन और समाज के सच्चे चित्र यहीं मिलते हैं।''

वीर भारत तलवार द्वारा आदिवासी केंद्रित साहित्य का वर्गीकरण महत्वपूर्ण है, खासतौर पर गैर-आदिवासी लेखन के संदर्भ में, क्योंकि उसकी उन्होंने तीन श्रेणियां बनाई हैं। चूंकि हमारे अध्ययन का विषय आदिवासी लेखन है, इसलिए हम आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर थोड़ी अलग प्रविधि से बात करेंगे। आदिवासी साहित्य के नाम पर मुख्यतः तीन तरह का साहित्य हमारे सामने है :

- आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य।
- आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य और
- आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया

साहित्य।

आदिवासियों के बारे में लिखे गए साहित्य का आदिवासी साहित्य के रूप में दावा करना सहज है। इसीलिए शोधार्थी अक्सर रेणु के 'मैला आंचल' के संथाल प्रसंग या योगेंद्र नाथ सिन्हा के 'वनलक्ष्मी' से आदिवासी साहित्य की शुरुआत मान लेते हैं। कुछ लोग तो तुलसीदास के रामचरितमानस में आए वन के प्रसंगों को भी आदिवासी साहित्य में मान लेते हैं और इसी दृष्टि से विश्लेषण करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि जहां भी वन, जंगल या किसी आदिवासी समुदाय का जिक्र आ जाता है, उसे ही आदिवासी साहित्य मान लिया जाता है और इससे 20वीं सदी के आखिरी दशक में प्रमुखता से उभरे आदिवासी साहित्य के आंदोलन के बारे में भ्रमों का निर्माण होता चला जाता है। आदिवासी चिंतक हिंदी साहित्य में आए वन या आदिवासी प्रसंगों को आदिवासी साहित्य मानने से इनकार करते हैं।

इस तरह आदिवासी साहित्य के बारे में दूसरा विचार सामने आता है- आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। यह विचार स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य के प्रभाव में निर्मित हुआ है। जाहिर है इस तर्क की अपनी सीमाएं हैं। अनुभूति की प्रामाणिकता किसी साहित्य का एकमात्र आधार नहीं हो सकती। आज जब आदिवासी समाज गहरे सांस्कृतिक हमलों से गुजर रहा है, ऐसे में आदिवासी समाज का सच लिखने के लिए केवल किसी समुदाय में पैदा हो जाना काफी नहीं है। आदिवासी समुदायों का बड़ी संख्या में हिंदूकरण और ईसाईकरण हुआ है। इसने उनकी मौलिक समझ और दर्शन को बहुत प्रभावित किया है।

इस प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीसरा विचार सामने आता है कि आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य माना जाए। जाहिर है आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। यह आदिवासी जीवन का मूल है और जिस पर चौतरफा हमले हो रहे हैं। इसलिए जहां आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय। निष्कर्षतः आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर आधारित साहित्यिक आंदोलन है जो आदिवासी परंपरा से अपने तत्व लेता है और 21वीं सदी के पहले दशक में अकादमिक जगत में अपना अलग साहित्यिक आंदोलन होने का दावा प्रस्तुत करता है। समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत हमें उदारवाद, बाजारवाद और भूमंडलीकरण के उभार से माननी चाहिए। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए इसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था, इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक ऊर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा का नाम ही समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन है। ''आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।''

आदिवासी साहित्य के नाम पर किए जा रहे शोधों में से काफी मात्रा में ऐसे भी हैं जिनका आदिवासी समाज और साहित्य से कोई सीधा संबंध ही नहीं बनता। वस्तुस्थिति यह है कि आदिवासी जीवन और समाज पर गैर-आदिवासी रचनाकारों के कहानी-उपन्यास प्रशंसा, पाठ्यक्रम और पुरस्कार पा रहे हैं तथा दो-एक आदिवासी रचनाकारों को छोड़कर सैंकड़ों की संख्या में सक्रिय आदिवासी कवि-लेखक उपेक्षा के शिकार हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा और बुनियादी सवालों को उठाने की दृष्टि से पिछले वर्षों में हुई दो गोष्ठियां बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक दिल्ली में हुई और दूसरी रांची में। जुलाई 2013 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आदिवासी साहित्य पर हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में संभवतः पहली बार खुले तौर पर झारखंडी भाषा, साहित्य, संस्कृति अखड़ा (रांची) की संयोजक और आदिवासी रचनाकार वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य की अवधारणा के सवाल को मुखरता से उठाया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कुछ समय के साथ या सुनी-सुनाई बातों से आदिवासी जीवन का सच प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मुख्यधारा की सोच, भाषा और दृष्टिकोण से आदिवासी जीवन पर किया लेखन रिसर्च हो सकता है, लेकिन आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासी ही अपनी पीड़ा को सही ढंग से बयान कर सकता है। उसकी समस्याएं प्रधानतः आर्थिक नहीं हैं, जैसा कि अधिकांश रचनाकारों ने चित्रित किया है। वंदना टेटे द्वारा उठाए गए सवालों पर कथाकार संजीव सहित आदिवासी जीवन पर लिखने वाले कई गैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा असहमति जताते हुए प्रतिक्रिया दी गई।

वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य संबंधी अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप से अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' में रखा है। आदिवासी साहित्य के संवर्द्धन के लिए निजी प्रयासों से संचालित प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन से प्रकाशित यह पुस्तक आदिवासी जीवन, भाषा, कला, संस्कृति और साहित्य के बारे में फैलाए जा रहे भ्रमों को तोड़ते आदिवासी नजरिए से आदिवासी साहित्य और आदिवासी विश्वदृष्टि के बारे में सही समझ विकसित करने की दिशा

में सार्थक हस्तक्षेप है। इसमें वंदना टेटे आदिवासी साहित्य संबंधी प्रचलित तीन धारणाओं- उसके लोक साहित्य होने, अनगढ़ होने और प्रतिरोध का साहित्य होने का खंडन करती हैं तथा आदिवासी संस्कृति, जीवन-दर्शन व उनके विश्व दृष्टिकोण के प्रति एक नई अंतरंग दृष्टि की मांग करती हैं। वे लोक का संबंध हिंदू मिथक और संस्कृति से बताते हुए कहती हैं, ''प्रकृति-पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांध कर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।'' वे लोक और शिष्ट के विभाजन से भी अपनी असहमति दर्ज कराती हैं। इसी तरह आदिवासी साहित्य और कलाओं को हिंदी आलोचकों द्वारा अनगढ़ बताने को सीधे-सीधे आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता ओर सहअस्तित्व के दर्शन को वैचारिक रूप से नकारना मानती हैं। पुस्तक में वंदना टेटे की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है कि आदिवासी साहित्य अन्य शोषितों के साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है। वे लिखती हैं, ''आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।'' वंदना टेटे कहती हैं कि प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ लड़ने वालों की सत्ता स्थापित करना चाहता है लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर-दूर तक नहीं है।

इन स्थापनाओं के आलोक में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को ठीक से समझने की आवश्यकता है। हमें स्पष्ट रखना होगा कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है इसलिए हमें इस आग्रह को छोड़ना होगा कि हिंदी में लिखे साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानेंगे, आदिवासी भाषाओं में लिखे साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं मानेंगे। आदिवासी साहित्य की परंपरा में हमें विभिन्न आदिवासी भाषाओं में बिखरे लाखों आदिवासी गीतों के रूप में उपलब्ध पुरखौती को शामिल करना होगा जिसका कुछ हिस्सा डब्ल्यू. सी. आर्चर जैसे विद्वानों द्वारा संकलित भी किया गया है। यह आदिवासी साहित्य का मूलाधार है। इसलिए आदिवासी साहित्य का इतिहास लिखते वक्त, उसकी प्रवृत्तियां बताते वक्त हमें संथाली, मुंडारी, खड़िया, कुडुख, हो आदि भाषाओं की साहित्य-परंपरा को सामने रखना होगा।

आखिर हम आदिवासी साहित्य किसे कहेंगे? हिंदी के दो अन्य अस्मितावादी विमर्शों को देखें तो यह लगभग स्वीकृत हो चुका है कि स्त्रियों की समस्या पर स्त्रियों द्वारा लिखे साहित्य को स्त्रीवादी साहित्य और इसी तर्ज पर दलितों की समस्याओं पर दलित रचनाकारों के रचनात्मक हस्तक्षेप को दलित साहित्य की श्रेणी में रखेंगे। दलित साहित्य के विरोधियों ने 'स्वानुभूति' के सवाल पर खूब हल्ला मचाया लेकिन बड़ी संख्या में दलितों के प्रतिरोध ने दलित साहित्य विषयक दलित आलोचकों की स्थापनाओं को मनवा ही लिया।

जहां तक गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी जीवन पर किए लेखन का सवाल है, वह उस लेखकीय संवेदनशीलता का परिचायक है जो साहित्य मात्र के उद्देश्य, अनुभव और संवेदनशीलता के विस्तार का समर्थन करती है। वह भी हिंदी साहित्य की धरोहर है। लेकिन जैसे सभी युगों की प्रगतिशील कविताएं 'प्रगतिवाद' नामक साहित्यिक आंदोलन में शामिल नहीं की जा सकतीं, वैसे ही आदिवासी जीवन के किसी पक्ष पर लेखन मात्र आदिवासी साहित्य नहीं कहा जा सकता। सवाल यह है कि क्या प्रगतिशील रचनाएं सिर्फ 'प्रगतिवाद' में शामिल होने के लिए लिखी जानी चाहिए। आदिवासी जीवन पर गैर-आदिवासी लिखें। किसी भी विषय पर कोई भी लिख सकता है, पाठक को भी पढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। गैर-आदिवासी लेखकों को चाहिए कि अगर वे आदिवासी समाज को लेकर सच में चिंतित हैं तो आदिवासी साहित्यकारों को प्रोत्साहित करें, उनका सहयोग करें क्योंकि प्रकाशन, प्रसार, प्रशंसा, पुरस्कार और पाठ्यक्रम के रूप में मौजूद साहित्य के एकेडमिया की पूरी मशीनरी पर गैर-आदिवासियों का कब्जा है। वैसे अब काफी संख्या में आदिवासी रचनाकार हिंदी में भी लिखने लगे हैं लेकिन इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है, आदिवासी भाषाओं में रचित मूल साहित्य के अलावा उसके हिंदी अनुवाद को भी पाठ्यक्रमों में शामिल करना चाहिए। यह इसलिए भी जरूरी है कि हिंदी प्रदेश, हिंदी क्षेत्र और हिंदी जाति की बात करते वक्त हम हमेशा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तराखंड, झारखंड, बिहार, राजस्थान, हिमाचल आदि के पूरे क्षेत्र और जनसंख्या को उसमें शामिल मानते हैं, लेकिन उनकी भाषाओं और साहित्य को कभी अपना नहीं मानते रहे। हिंदी के पाठ्यक्रम निर्माताओं को इस रूप में यह प्रायश्चित्त का अवसर मिला है।

आदिवासियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, लेकिन अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार-बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियां आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखौती कहा

जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ साल पहले और संथाली आदि मध्य, भारतीय आदिवासी भाषाओं में 1950 के आसपास से आदिवासी कलम ने अपने स्वरों को शब्दों में ढ़ालना शुरू किया। आजादी के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में आदिवासी चेतना की गुंज सुनाई देने लगी। बाद के आदिवासी लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है। पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य जहां प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विविध रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है।

आदिवासी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन केंद्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' में नहीं, समूह में विश्वास करता है। अधिकांश आदिवासी समुदायों में काफी समय बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएं घर नहीं कर पाईं। परंपरा, संस्कृति, इतिहास, कला से लेकर विद्रोह तक, सब कुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। इस तरह आदिवासी साहित्य बिरसा, सिदो-कान्हू, सिनगी दई, फूलो झानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और तमाम आदिवासी पुरखों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है।

पिछले दशकों में मुक्तिकामी साहित्य ने पाठकों, शोधार्थियों और आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है। इसी प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। अकादमिक दुनिया में स्त्रीवादी लेखन और दलित लेखन के बाद आने से जहां एक तरफ आदिवासी लेखन की राह थोड़ी आसान हुई, वहीं इसके बारे में कुछ सरलीकरणों और भ्रमों का निर्माण भी हुआ। आदिवासी लेखन और साहित्य के बारे में सही समझ बनाने के लिए इसकी स्रोत सामग्री और उसके आधार पर बनने वाली आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करना बहुत जरूरी है। साथ ही आदिवासी साहित्य की विचारधारा पर भी बात करना आवश्यक है। जब हम आदिवासी साहित्य की परंपरा और विचारधारा का व्यवस्थित अध्ययन करेंगे तो उसकी प्रवृत्तियों को भी समझ पाएंगे। जाहिर है मुक्तिकामी विमर्शों के दौर में इन विमर्शों और अस्मिताओं से संबंधित साहित्य की सही परंपरा और प्रवृत्तियों के अध्ययन के माध्यम से ही हम मूल्यांकन की सही प्रविधि निर्मित कर पाएंगे।

आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करने के लिए आदिवासी साहित्य के स्रोतों का अध्ययन जरूरी है। सबसे पहले यह रेखांकित करना जरूरी है कि हमें साहित्य के पूर्व निर्धारित प्रतिमानों और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इस विषय पर विचार करना चाहिए। हमारी परंपरागत समझ यह है कि किसी महानगर के किसी वर्चस्वशाली भाषा के ज्ञात प्रकाशक के यहां से मुद्रित-प्रकाशित, पुरस्कृत, प्रशंसित, पाठ्यक्रम में शामिल हो चुकी किताब ही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य की किताबें अक्सर इसी प्रक्रिया में चर्चित हुआ करती हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर विचार करते वक्त हमें इस परिपाटी को छोड़ना होगा तभी हम आदिवासी साहित्य की सही स्रोत सामग्री का चयन कर पाएंगे और इसकी परंपरा की पड़ताल कर पाएंगे। आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य और मौखिक परंपरा आदिवासी साहित्य का मूल स्रोत है। सिर्फ हिंदी में लिखित-मुद्रित आदिवासी संबंधी लेखन को आदिवासी साहित्य कहना उचित नहीं है। मौखिक साहित्य इसका मूलाधार है। आदिवासी साहित्य की परंपरा को तीन भागों में बांट कर समझा जा सकता है-

1. पुरखा साहित्य
2. आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य की परंपरा और
3. समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन।

1. पुरखा साहित्य : आदिवासी दर्शन व साहित्य का मूलाधार पुरखा साहित्य ही है। पुरखा साहित्य आदिवासी समाज में हजारों वर्षों से जारी मौखिक साहित्य की परंपरा है। 20वीं सदी में इसके संकलन, संपादन और प्रकाशन के कार्य भी हुए हैं। आदिवासी चिंतक इस मौखिक परंपरा को मौखिक साहित्य या लोक-साहित्य कहने के बजाए पुरखा साहित्य कहते हैं। इसके पीछे महत्वपूर्ण तर्क हैं। पहली बात तो यह कि मौखिक साहित्य कहने से कुछ पता नहीं चलता कि किसका मौखिक साहित्य, कैसा मौखिक साहित्य? दुनिया के तमाम समाजों में लिखित से पहले मौखिक साहित्य की परंपरा रही है। उससे अलगाने के लिए आदिवासी चिंतक आदिवासी मौखिक परंपरा को पुरखा साहित्य कहते हैं। इस प्रक्रिया में वे इसे लोक साहित्य से भी अलग बताते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक वंदना टेटे लिखती हैं कि चूंकि आदिवासी समाज में बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं है, इसलिए साहित्य को भी नहीं बांटा जा सकता। चूंकि आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्व है और मौखिक परंपरा में मिलने वाले गीत, कथाएं आदि भी पुरखों ने ही रची हैं, इसलिए इस मौखिक परंपरा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए।

तमाम आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की समृद्ध परंपरा मौजूद है। इसी के

माध्यम से हम उनके जीवन-दर्शन, ज्ञान-परंपरा, मूल्यों- विश्वासों आदि को जान सकते हैं। इसलिए आदिवासी जीवन को जानने के लिए पुरखा साहित्य को संकलित करना और सहेजना बहुत जरूरी है। इस दिशा में अध्येताओं ने थोड़ा बहुत कार्य किया है लेकिन काफी काम किया जाना बाकी है। देश में 300 से अधिक आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की परंपरा बिखरी पड़ी है। इसके संकलन और संपादन में बहुत सावधानी की जरूरत है। अक्सर हम अपने पूर्वाग्रहों के साथ संकलन शुरू करते हैं और हमारे पूर्वाग्रह पाठ संशोधन के बीच में घुस जाते हैं। संकलन के लिए आदिवासी दर्शन और संबंधित भाषा का ज्ञान जरूरी है।

उपलब्ध पुरखा साहित्य में दो-तीन विशेषताएं कॉमन हैं- पुरखों के प्रति कृतज्ञता का भाव, प्रकृति और प्रेम के प्रति गहरी संवेदनशीलता, बाहरी समाज के हमलों के प्रति सजगता, अपनी परंपरा और संस्कृति को बचाने का भाव आदि। आदिवासियों पर बाहरी समाजों के हमलों का इतिहास काफी पुराना है और उतनी ही पुरानी है उसके प्रति आदिवासी पुरखों की सजगता। उदाहरणस्वरूप एक गीत देखिए-

''रास्ते में एक जोड़ा जो लूदम फूल है
उस फूल को ऐ बेटी, किसने तोड़ लिया?
रास्ते में अटल फूल की जो कतार है
हे बेटी, किसने छिनगा लिया?
चमचमाते हुए शिकारी
शिकारियों ने फूल तोड़ लिया
झलकते हुए अहेरी
अहेरियों ने डाल को छिनगा दिया
शिकारियों ने जो फूल को तोड़ा
हे बेटी, चोटी से ही तोड़ लिया।
अहेरियों ने जो डाल को छिनगा दिया
सो हे बेटी, नीचे से ही छिनगा दिया!
शिकारियों ने जो फूल को तोड़ा
हे बेटी, उसकी फुनगी मुरझा गई
अहेरियों ने जो छिनगा दिया,
हे बेटी, उसका तना कुम्हला गया।''

उपर्युक्त गीत एक मुंडारी पुरखा गीत का हिंदी अनुवाद है। तमाम आदिवासी भाषाओं में इस तरह की सामग्री बिखरी पड़ी है। जरूरत है उसके प्रति सही दृष्टिकोण विकसित करने और उसे सहेजने की ताकि आदिवासी दर्शन और साहित्य की सही परंपरा से वाकिफ हो सकें।

2. आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य की परंपरा : आदिवासी भाषाओं में लिपियां विकसित होने की शुरुआत अब से लगभग डेढ़ सौ साल पहले हो गई। अब तक एक दर्जन से अधिक आदिवासी भाषाओं की लिपियां तैयार हो चुकी हैं। कई आदिवासी भाषाओं ने पड़ोस की किसी बड़ी भाषा की लिपि को स्वीकार कर लिया है। निष्कर्षतः आदिवासी भाषाओं में लेखन और मुद्रण की परंपरा भी सौ साल से अधिक पुरानी है। इस परंपरा की और पड़ताल किए जाने की जरूरत है। मौजूदा स्रोत सामग्री के अनुसार मेन्नस ओड़ेय का 'मतुराअ कहनि' नामक मुंडारी उपन्यास पहला आदिवासी उपन्यास है। यह 20वीं सदी के दूसरे दशक में लिखा गया। इसके एक भाग का अनुवाद हिंदी में 'चलो चाय बागान' शीर्षक से किया गया।

आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य का महत्व यह है कि इसमें विधाएं भले ही बाहरी समाजों और भाषाओं से ली गई हैं लेकिन चूंकि रचनाकार अपनी मातृभाषा में लिख रहा है इसलिए अभिव्यक्त विचार और दर्शन में मौलिकता बनी रहती है। पूर्वोत्तर की खासी, गारो आदि भाषाओं में शौर्यगाथाओं की लंबी परंपरा है। धीरे-धीरे हिंदी आदि अन्य भाषाओं में भी इनके अनुवाद होने लगे हैं। ढ़ेरों आदिवासी भाषाओं के लेखन में गए बिना सिर्फ गैर-आदिवासी भाषाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर आदिवासी साहित्य के बारे में बनाई गई राय अधूरी और भ्रामक होगी। अब भी हर साल आदिवासी भाषाओं में सैंकड़ों किताबें प्रकाशित हो रही हैं। हालांकि स्पष्ट समझदारी के अभाव में कहीं उसे आदिवासी लोक साहित्य कहा जा रहा है तो कहीं लोक कथाएं।

3. समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन : पुरखा साहित्य और आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर बाहरी साहित्य के प्रभाव में हिंदी, बांग्ला, तमिल, मलयालम, उड़िया आदि बड़ी भाषाओं में भी लेखन शुरू हुआ है। हर भाषा में इसकी शुरुआत के समय में थोड़ा-बहुत फर्क है। हिंदी में इसकी शुरुआत तीन दशक पहले से मानी जा सकती है। हिंदी के लेखकों के प्रभाव में आदिवासियों ने मुंडारी, संथाली, खड़िया आदि भाषाएं छोड़कर हिंदी में लिखना शुरू किया। हालांकि इनकी ज्यादातर रचनाएं छोटे प्रकाशनों से छपी हैं या अप्रकाशित ही रही हैं लेकिन इसके बावजूद पिछले तीन दशकों में हिंदी में सक्रिय आदिवासी रचनाकारों की संख्या कई दर्जन हैं। इन्होंने कविताओं के अलावा कहानियां और उपन्यास तो लिखे ही हैं, कुछ ने तो व्यंग्य, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत आदि विधाओं में भी हाथ आजमाया है। हिंदी आदिवासी कविता में पहला नाम सुशीला सामद का है लेकिन उसके बाद एक निरंतरता का अभाव दिखाई देता है। इसलिए समकालीन हिंदी आदिवासी कविता की शुरुआत हम रामदयाल मुंडा की कविताओं से मान सकते हैं जिन्होंने मुंडारी के साथ हिंदी में भी कविताएं लिखी हैं। उनके बाद ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, विजय सिंह मीणा, ज्योति लकड़ा, अनुज लुगुन, जसिंता केरकेट्टा आदि का नाम उल्लेखनीय है। कथा लेखन के क्षेत्र में वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पीटर पौल एक्का, रोज केरकेट्टा, मुंगल सिंह मुंडा, विजय सिंह मीणा आदि प्रमुख हैं। इन्होंने आदिवासी साहित्य को सैंकड़ों कहानियां और लगभग आधा दर्जन उपन्यास दिए हैं। शंकरलाल मीणा व्यंग्य और कहानी-दोनों क्षेत्रों में सक्रिय हैं। हरिराम मीणा ने यात्रा-वृत्तांत व संस्मरण भी लिखे हैं। ■